टूटते-बन्धन

—श्री राम शर्मा 'राम'

टूटते बन्धन

(मौलिक उपन्यास)

लेखक :—

श्रीराम शर्मा 'राम'

अशोक पुस्तक-मन्दिर

१६३, महात्मा गान्धी रोड,

कलकत्ता-७

प्रकाशक :—
अशोक पुस्तक-मन्दिर
१६३, महात्मा गान्धी रोड,
कलकत्ता-७

प्रथम संस्करण :
जनवरी, १९५९

मूल्य
५ रू०

मुद्रक :—
अशोक आर्ट प्रेस
२७, मल्लिक स्ट्रीट,
कलकत्ता—७

मेरी बात

कथा-साहित्य में उपन्यास सहजभाव से समाज के व्यक्ति का चित्रण करता है। प्रस्तुत उपन्यास में भी एक व्यक्ति का चित्रण है। पाठक देखेंगे कि कथा का नायक अपने जीवन में जब द्वन्द्व तथा अनुभूति को साथ लिये चलने में समर्थ बना, तब उसके समक्ष एक ऐसी नारी आई जो कुमारी तो थी ही, समर्थ भी थी। किन्तु नायक नारी का चाहक बनकर भी, उस नारी के ममत्व में खो नहीं गया। वह अपने जीवन की साधना और उपासना जिस त्यागमयी आस्था में पाता था, उससे पृथक नहीं हो सका।

इस रूप में कथा लिखते समय लेखक का दृष्टिकोण था कि इस मायावी जगत में वह अपने नायक द्वारा यह खोजे कि क्या सचमुच इस जीवन के लिये वासना ही श्रेष्ठ है या जीवन का शाश्वत दृष्टि-कोण। लेखक अपने प्रयत्न में कितना सफल बना, यह निर्णय करना पाठकों का काम है, परन्तु इतना सत्य है कि नर के लिये नारी का जितना विशिष्ट महत्व है, वहाँ जीवन का सत्य और आत्मा की वाणी को भुला देना हमारी अज्ञानता का द्योतक है।

औपन्यासिक ढंग से कथा में ऐसे स्थल भी हैं कि जहाँ नारी और नर ऐसी स्थिति को स्वीकार करें जो उनके उपयुक्त हो,—जीवन के लिये उपादेय हो। स्पष्ट है कि यह सार्थकता है, वासना—जीवन का भोग। परन्तु कथा में नायक और नायिका ने इसे आवश्यक मानकर भी, कभी स्वीकार नहीं किया।

अन्त में, लेखक के रूप में, मैं अशोक पुस्तक-मन्दिर के संचालक प्रो० रामसकल सिंह एम० ए० का आभार मानूँगा जिन्होंने पुस्तक को सुन्दर ढंग से छापकर पाठकों के समक्ष उपस्थित किया है।

श्रीराम शर्मा 'राम'

ए-१७१, किदवई नगर,
नई दिल्ली

समर्पित

उस पिता जी को,

जिन्हें

अपने जीवन की

आँख खोलने के

पूर्व ही खो बैठा।

—श्रीराम शर्मा 'राम'

टूटते बन्धन

: १ :

सूरज डूब रहा था और संध्या का आवरण धीरे-धीरे चारों ओर फैलता जा रहा था। दिन भर से तपती हुई धरती ठण्डी पड़ रही थी। गरम हवा स्निग्ध और मनोरम लगने लगी थी। चौपाये जंगल से लौट रहे थे। गायें रमाँ रही थीं। उनके बच्चे माँ को पुकार रहे थे।

ऐसे समय मन्दिर के देवता के समक्ष बैठा हुआ अनन्त एकमन और एकान्त बनकर प्रतिमा की ओर देख रहा था। उसकी आँखों में अश्रु-जल भरा था। गले की नसों में उभार आ गया था। बार-बार उसके होंठ फड़फड़ा रहे थे। वह कुछ कह रहा था। लगता था कि उसके मन का उद्वेग आँखों में उतर आया था। वह अशान्त और दीन बना था। उसी समय उसने पीछे से सुना—'अनन्त!'

सुनते ही, देवता की ओर प्रार्थना के हेतु जुड़े हुए अनन्त के हाथ नीचे गिर गये। उसने प्रतिमा की ओर से मुँह फेर लिया—'एकादशी!'

मन्दिर के द्वार पर खड़ी हुई एकादशी एकटक अनन्त की ओर देख रही थी। तभी वह आगे बढ़ आई और मुस्कराती हुई बोली—'अनन्त, मैं यहाँ देर से खड़ी हूँ। तुम्हें देख रही हूँ।'

बात सुनने के साथ, अनन्त ने देखा कि वह रूप की परी-सी, उसकी

बचपन की साथिन एकादशी, उस समय भी जाने कैसी अनुपम बन आई थी। एक ओर मन्दिर का देवता अपनी ज्योति से दिप रहा था, तो दूसरी ओर वह एकादशी जगमगाती हुई झिलमिला रही थी। क्षणभर अनन्त ने उसकी ओर देखा। जैसे अनायास ही—उसने समझा कि ऋषियों ने और पण्डितों ने नारी के रूप और गुण की जो प्रशंसा की है, वह व्यर्थ ही नहीं, उसका एक विशेष महत्व है। जैसे नारी के जीवन में ही यह समूचा संसार समाधिस्थ है। नारी ही प्रेरणा है, नारी ही ममता! तभी वह आह्लादित बनकर बोला—आओ, एकादशी! बैठो! यह कहते हुये वह स्वयं ही एक अभूतपूर्व आनन्द से भर गया। उसका रोम-रोम पुलकित हो उठा। उस अवस्था में ही उसने मुस्करा दिया, अपनी उन हर्ष से भरी हुई आँखों को उसने एकादशी की आँखों में डाल दिया और फिर बोला—'दिखता है आज तुमने अपना विशेष श्रृंगार किया है। सच, तुम्हें देखकर लगता है कि इस मन्दिर की प्रतिमा से भी अधिक ठोस, इससे भी अधिक आकर्षक तत्व तुम में भरा है। आज तुम ने इसी रूप में अपने को संजोया है। विश्वभरका आकर्षण आज तुम में ही समाविष्ट हुआ दीखता है।

एकादशी ने इतना सुना, तो बरबस उसका सिर झुक गया। वह लजा गयी, उसने अपने गले में पड़े जूही के फूलों का हार हाथ की उँग-लियों में लपेटना शुरू कर दिया और फिर उससे हाथ हटाकर, मन्दिर की प्रतिमा को ओर देखते हुए कहा—'मैं समझी, नारी की सुन्दरता तुम्हें भी आकर्षित करती है,—क्यों!' वह फिर बोली—'अनन्त जी, इस एकादशी ने आज ही सुना कि तुम भी नारी का कोमल शरीर और उसके लावण्य पर मोहित होते हो!' यह कहते हुये एकादशी ने झटका-सा खाकर

अनन्त की ओरे देखा और अतीव मादक भाव में मुस्करा दिया। तद-नन्तर ही, वह ऊपर आकाश की ओर मुँह उठाकर बोली—'इस एका-दशी को आज ही अवसर मिला कि तुमसे कहें, तुमसे प्रश्न करे कि तुमने आज की तरह और कभी भी ऐसा अनुभव नहीं कर पाया था क्या? तुमने नहीं देख पाया था, इस एकादशी की ओर? उसने अनन्त की ओर देखकर कहा—'अनन्त जी, मुझे तो मन्दिर की इस पाषाण-प्रतिमा की पूजा करते-करते वर्षों बीत गये। किन्तु इस देवता ने एकबार भी मुँह नहीं खोला। कोई आशीष नहीं दिया। यह देवता एक दिन भी नहीं बोला। सच, एक दिन भी नहीं मुस्करायी यह मन्दिर की प्रतिमा! और एक तुम हो, निरे प्रतिमा सरीखे! जाने कितने वर्ष आये और गये! एक दिन था कि तुम भी बच्चे थे और मैं भी। पर अब······· हाँ, अब दोनों ही समझने लगे कि मैं नारी हूँ·······तुम पुरुष······ जानते हो, मैं नित्य ही पूजा के निमित्त आती हूँ और लौट जाती हूँ। जब मैं तुम्हारा पार नहीं पा सकी, तो इस मन्दिर के देवता को कैसे पहचान सकती हूँ, न, कभी नहीं!'

बात सुनते-सुनते, अनन्त एकाएक ही आह्लादित और हर्ष से भरा नहीं रह सका। वह एकादशी की डबडबायी आँखों में डूब गया। वह गम्भीर हो गया। तभी सान्त्वना और ममता भाव से प्रेरित होकर वह बोला—'देवता किसी की पूजा को अस्वीकार नहीं करता, एकादशी! जो गाँव की मालकिन है, जिसके पुरखे इस मन्दिर के निर्माता हैं, भला उसे ही आशीष की आकांक्षा क्यों—हाँ, क्यों, एकादशी?

बरबस ही, जैसे आहत बनकर एकादशी बोली— 'अनन्त, मैं भी नारी हूँ। आकांक्षा रखती हूँ। आत्मा और परमात्मा को मानती हूँ। सभी

की तरह मैं भी जीवन और उसका सुख चाहती हूँ। तुम मेरी बात सुनो, मैं जो कुछ हूँ, उससे सन्तुष्ट नहीं हूँ। मानस की अनुभूति और प्रेरणा मुझे भी अनुप्राणित करती है। नारी की इच्छा मेरे भी पास है।'

'ओह! मैंने समझा, एकादशी!'

एकादशी ने जैसे झुँझलाकर कहा—तुम कुछ नहीं समझे। गाँव भर कहता है कि तुम पागल हो। इस दुनिया से परे की बात सोचते हो। इतनी देर द्वार पर खड़े होकर मैंने भी तो देखा कि तुम·······सच, तुम जाने क्या सोच रहे थे! इस पत्थर की प्रतिमा में जाने क्या खोज रहे थे।

अनन्त हँसा और मुस्कराया—'तो तुम भी मुझे पागल मानती हो, एकादशी!'

एकादशी ने कहा—'मैं चाहती हूँ, तुम अपने को समझो! यह तो देखो कि कि तुमने कितना पढ़ा है। दूर-दूर तक तुम सरीखा विद्वान यहाँ नहीं है। और फिर भी तुम ऐसे याचक हो, इतने अधीर·······रे, अनन्त!।

अनन्त उठ खड़ा हुआ और बोला—आओ, नदी पर चलें। वहाँ शीतलता और शांति है। नदी की उठती हुई तरंगें देखोगी, तो समझोगी कि जीवन क्या है, सच, लहराता हुआ सागर!

और अनन्त एकादशी को साथ ले नदी की ओर चल दिया।

२

गाँव में इस बात का किसी को ज्ञान नहीं कि अनन्त के कितने नाम हैं। कोई उसे अन्तू कहता, कोई अन्तराम। फिर भी अनन्त मन्दिर के देवता की पूजा करता है और गाँव में रहता है। उसके पिता और प्रपितामह का भी मन्दिर से सम्बन्ध था। जिस समय अनन्त अपने माता-पिता से छूट कर निराश्रित बना, तभी से उसे मन्दिर की सेवा और पूजा-पाठ का काम जमींदार की ओर से सौंप दिया गया। इससे पूर्व, वह बाहर जाकर पढ़ता रहा इसलिये उस अनन्त के प्रति लोगों की विविध प्रकार की धारणा बनी। किसी की दृष्टि में वह अत्यन्त सात्विक धर्मात्मा और पण्डित था, किन्तु गाँव में ऐसे लोग भी कम नहीं थे जिनके विचार से अनन्त पागल और अविवेकी समझ लिया गया था। फिर भी एक धारणा सभी की समान थी। अनन्त के प्रति सद्भावना सभी को थी। गाँव के अधिकांश व्यक्ति उसे स्नेह और आदर की दृष्टि से देखते। उसे विद्वान मानते। इसके विपरीत, अनन्त किसी के पास उठता-बैठता भी नहीं था। वह मन्दिर में होता, या जंगल में। गाँव में किसी के पास नहीं आता-जाता था। जैसे गाँव से उसका कोई सम्बन्ध ही नहीं। वह उस गाँव का नहीं था। वहाँ उसका कोई नहीं था।

लेकिन गाँववासी तो उससे स्नेह रखते थे। स्त्रियाँ उसे अन्न आदि देती थीं। आयेदिन उसे भोजन करने के लिये निमन्त्रित किया जाता

था। यह दूसरी बात थी कि अनन्त किसी के घर जाकर खाना पसन्द नहीं करता था।

किन्तु जब उससे कोई प्रश्न करता—अनन्त, तुम विवाह क्यों नहीं कर लेते? एक से दो क्यों नहीं हो जाते?

—तो अनन्त तुरन्त ही कहता—'एक काम मुझसे ले लो, चाहे मन्दिर की पूजा करा लो, या विवाह! मैं विवाह नहीं करूँगा।'

यह सुन, गाँववाले उससे फिर कहते—'तुम युवा हो, इस दुनिया में बसे हो, तुम इसकी भी रीत समझो, अनन्त भाई!'

किन्तु यह सुनकर भी, जैसे वह अनन्त इस दुनिया की 'रीत' के मर्म तक एक दिन भी नहीं पहुँच सका। तभी जमींदार की पुत्री, मन्दिर की स्वामिनी एकादशी का अनन्त से और अधिक सामीप्य बढ़ गया। जिसके पिता ने दो वर्ष पूर्व ही, अपनी समस्त सम्पदा पुत्री को सौंप कर परलोक वास किया था। वैसे अनन्त और एकादशी का बचपन से परिचय था। दोनों साथ-साथ खेले थे। जिस विवाह के प्रति अनन्त सदा उपेक्षित तथा उदासीन बना रहा, उसी पर एकादशी की आस्था थी। वह वैभव और सुखपूर्ण जीवन में पाली-पोसी गयी थी। एकादशी जीवन की गहराई में झाँकती, अपने उस एकाकी जीवन में वह अशान्त तथा अधीर बन जाती। वह एक अज्ञात प्रेरणा से प्रेरित हुई जब अपने लिये वर चुन लेने की बात सुनती, तो वह समस्त विश्व की ओर से आँख मूँद कर केवल अनन्त को अपने सामने देखती और कहती, यह है, मेरा जीवन-साथी.........यह है, मेरे मन का मनुहार...........

किन्तु, अपने मन की इस भावना को पढ़ने के साथ ही, जब एकादशी को अनन्त के विचार और जीवन की कार्यशैली ध्यान आता, बरबस ही,

उस सुकुमारी और अक्षत जमींदार की बेटी का हृदय आन्दोलित हो उठता। वह दुराशाओं के गर्त में गिर जाती और उसी अन्धकार में लीन हुई, मानो छटपटा कर कहती—अनन्त को पाना कठिन है···वह दुष्कर है !

एकादशी के आग्रह पर जब अनन्त उसके घर पहुँचता, तो कुछ देर इधर-उधर की बातें करने के बाद ही लौट आता। सचाई यह थी कि वह एकादशी से भी अधिक न बोल पाता। उस घर के राजसी ठाठों को देख उसे संकोच होता। लेकिन इसके विपरीत वह एकादशी थी कि उन दिनों नित्य ही मन्दिर में जाती और प्रतिमा-पूजा का आश्रय ले, उस अनन्त के साथ बैठ कर बातें करना चाहती। वैसे अनन्त जानता था कि एकादशी देवता के प्रति अधिक आस्था नहीं रखती, वह तो उस पर पुष्प चढ़ाती हुई भी, उसी की ओर देखती है। मानो उस अनन्त में से ही कुछ खोज लेना चाहती है।

इस प्रकार, सदा की भाँति जब एकादशी एकबार मन्दिर में आई, तो पूजा के हेतु लाये फूल-बताशे देवता पर नहीं चढ़ा पाया। अनन्त उस समय प्रतिमा के समक्ष ही खड़ा था। उसे देखते ही, एकादशी एकबारगी नीचे झुक गयी और उस नैवेद्य को अनन्त के पैरों में उँडेल कर बोली—भगवान ने सिखाया है न, मानव ही देवता है····यह इन्सान ! सो, तुम भी ! तुम मेरे देवता हो ! बोलो, क्या अब भी मेरी बात का उत्तर न दे पाओगे, तुम ? वह मुझे दो। और तभी उसने अनन्त के पैरों को पकड़ते हुए भारी स्वर से कहा—अनन्त, मुझे इन्हीं चरणों की पूजा करने दो। यह मेरी देर की साध है। बचपन की है। जानते हो न, जब हम गुड्डे-गुड़िया का खेल खेलते थे, तब की। पर मैंने

कभी भी तुम से नहीं कहा। कभी भी ऐसा सुयोग नहीं मिला, सोचती थी, तुम स्वयं समझोगे, कुछ अपने मुँह से कहोगे। पर तुमने तो जैसे मुँह सी लिया है। सदा बन्द रखा है। इस एकादशी के मन की व्यथा तुम एकबार भी नहीं समझ पाये। और यह तुम्हें खोजते-खोजते हार गयी है''''''जब थक गयी है। तुम सोचते होगे, यह एकादशी सम्पन्न है, सुखी है। यह ज़मींदार की बेटी है। पर यह तो निरा शून्य है, निरी एकाकी! व्यथित और अशान्त है। इस प्रकार तो यह मर जायेगी, ऐसे तो यह जीवित नहीं रह पायेगी''''''''''।

बलात् अनन्त ने एकादशी को ऊपर उठा लिया। उस समय वह स्वयं भी अत्यन्त भावनामय बनकर आकुल होगया। उसके मानस का सन्तुलन खोगया। उसने एकादशी की साड़ी का एक छोर पकड़ा और उसी की बहती हुई आँखों पर रख, सहृदय बनकर बोला—'इस अनन्त के पुरखों ने जिस जमींदार की बेटी के घर का अन्न खाया है, उसे यह अनन्त अपना जीवन, अपना सभी कुछ दे पायेगा, एकादशी! तुम प्रसन्न बनो, तुम सुखी रहो, यही तो मैं चाहता हूँ। मैं तुम्हें हँसती हुई देखना पसन्द करता हूँ।'

बरबस, एकादशी ने कहा—'अनन्त, तुम देवता के समक्ष खड़े हो। प्रतिज्ञा कर रहे हो?'

अनन्त मुस्कराया, बोला—मेरा देवता हर स्थान पर रहता है। वह मेरे हृदय में वास करता है एकादशी! यह कहते हुए अनन्त फिर गम्भीर बन गया। वह फिर बोला—'मैं देर से दिन के उजाले और रात की अन्धेरी में तुम्हारी बात पर टिका रहा हूँ। पर मैंने तो कुछ भी नहीं देख पाया''' कुछ नहीं समझ पाया, एकादशी! किन्तु देखता हूँ कि तुम्हारा यह

आत्म-विसर्जन, तुम्हारे यह आँसू, यह अनन्त क्या, देवता भी सहन न कर पायेंगे! ये आँसू तो उस महान हृदय को भी हिला देंगे। जाने तुमने कितनी बार कहा, जाने तुमने कितनी बार सुना कि यह भिखारी और जीवन में एकाकी अनन्त और है, तुम और। दोनों ही दूर हैं। दोनों ही विपरीत हैं। और तुम इसी को अपना जीवन-साथी चुनने चली हो! तुम इसी को अपना अक्षत्-प्रेम प्रदान करने आई हो! भला इसमें संगति कहाँ है: मेरा तुमसे आग्रह है कि हीरे को कूड़े के ढेर पर मत फेंक दो। उसे उपयुक्त व्यक्ति को दो। उसे चमकने का अवसर प्रदान करो, एकादशी!"

तदन्तर ही, अनन्त ने फिर कहा—'तुम सोचती होगी कि यह तुम्हारा बचपन का साथी कर्तव्य की भावुकता में बहा जा रहा है। आदर्शवादी बनने चला है। नहीं, एकादशी! वास्तविकता यही है। मैं अपनी दुर्बलता समझता हूँ। वैसे नारी का मोह मुझे भी सता सकता है। वह लालच मुझ में भी है। किन्तु मैंने रुपया नहीं पाया तो क्या, कुछ विचारों का समूह तो एकत्र कर पाया है। मेरे गुरु भी दरिद्र और निर्धन थे, वृद्ध थे, उन्होंने मुझे जो कुछ पढ़ाया, जितना सिखाया, मैं अब उसी को अपने जीवन पर उतारना पसन्द करता हूँ। मैं उन्हीं शब्दों पर आश्रित हूँ। अतएव, मैं नहीं चाहूँगा कि तुम सरीखी कोमल और अक्षत युवती के प्रेम का इस प्रकार दुरुपयोग करूँ। उसे सड़ाऊँ। वह तो मेरे जीवन की पवित्र निधि है। शाश्वत है। अमर है। उस भावना पर तो मेरा जीवन ही टिका है। तुम्हारे कारण ही मैं इस गाँव में पड़ा हूँ।' यह कहते हुए अनन्त ने साँस भरी और फिर बोला—'विश्वास करो, आज की तरह यह अनन्त तुम्हें सदा याद रखेगा। तुम्हारी मीठी

और कोमल स्मृतियाँ इसके अन्तरमय जीवन में समायी रहेंगी। देखती तो हो, यह अनन्त भारी नहीं है, हल्का है। और गहरा भी नहीं है। भला यह कैसे भूल जायेगा, इन रातों को और इन दिनों को जब यह तुम्हारे साथ बैठकर हँसा भी और रोया भी! तुम इस अनन्त को कृतघ्न और उपहास की वस्तु मत समझो। मेरे गुरु ने यदि मुझे शिक्षा दी, तो तुमने भावना। मेरे जीवन में जो कोमल और सरस राग है, वह तुम्हीं से प्राप्त हुआ है। इसकी वीणा के तार भी तुम्हीं ने साधे। इस-लिये, उन्हें यों मत खींचो। तोड़ने की चेष्टा मत करो। इस अनन्त को बन्धन में मत बाँधो। मुक्त रहने दो। यह जैसा कुछ है, इसी के भाग्य पर चलने दो एकादशी। जो गाँववासी आज इससे स्नेह करते हैं, कल जब मैं तुम्हें पा जाऊँगा, तो वे मुझसे ईर्ष्या करेंगे, वे स्पष्ट कहेंगे, अनन्त चोर निकला.......डाकू.......क्रूर और बधिक.......।

एकादशी का मुँह उस समय आसमान की ओर उठा था। उसकी आँखों में आँसू थे। वे उसके गालों पर आ गये थे। यह देख, अनन्त ने उन आँसुओं को पोंछा। उसी अवस्था में वह फिर बोला—'शायद तुमने सोचा होगा कि यह अनन्त बुद्धू है, नादान है। न, एकादशी, मैं लोगों की आँखें देखता हूँ। बातें सुनता हूँ। गाँव के लोग अभी से कहने लगे हैं कि यह अनन्त समझा नहीं जाता.......देखा भी नहीं जा सकता! यह जमींदार की लड़की को ठग रहा है.......जाल डाल रहा है, यह अनन्त!

एकादशी ने कहा—'अनन्त मैं इन बातों की चिन्ता नहीं करती। मैं अपना अधिकार माँगती हूँ। उसे समझती हूँ।'

अनन्त ने देखा कि एकादशी इस समय भारी है, कठोर है। वह

नहीं चाहता था कि एकादशी से कहे कि जो बात तुम आज कहने चली हो, वह मेरे पास देर से है। किन्तु उसने यह बात नहीं कही। वह ऐसा साहस नहीं कर सका कि एकादशी को बता दे कि वह भी उसे प्रेम करता है, उसे पाना चाहता है। क्योंकि उसने सोचा कि बात मुँह से कही और उससे दूर गयी। वह पुरानी और परायी हुई। फलस्वरूप उसकी तब भी यही धारणा थी कि एकादशी की मधुर-स्मृतियों को लिये रहे, अपने हृदय में सजाये रहे। यह सोचते हुए ही अनन्त ने बाहर दूर अन्तरिक्ष की ओर देखा। तभी उसने देखा कि एकादशी धीरे-धीरे पैर बढ़ाती हुई मन्दिर के बाहर हुई और आगे बढ़ गयी।

यह देख, अनन्त चौंक गया। हतप्रभ बन उसने एकादशी को टोका—एकादशी!

किन्तु एकादशी ने नहीं सुना। उसने सुनकर भी जैसे नहीं सुन पाया। उसने अपने पैरों को नहीं मोड़ा। रोका भी नहीं।

इस प्रकार एकादशी को जाती देख, अनन्त बरबस ही खिन्न बन गया। उसे आघात पहुँचा। उस अवस्था में ही, वह देवता की प्रतिमा के समक्ष जाकर, एक अपराधी बालक के समान, गिड़गिड़ाया और रो पड़ा। वह देवता के चरणों में मस्तक टेक कर बोला,—'मेरे जीवन, देवता तुम मुझे बचाओ। अपने इस अनन्त की सुधि लो। बोलो, मैं क्या करूँ? मैं क्या इस सुन्दर एकादशी की सीमा में जाकर खोजाऊँ? उस नारी की गहनता में डूब जाऊँ? और वह एकादशी अन्धी है, अनजान है। वह बचपन की स्मृति को ले, जीवन का लम्बा पथ प्रशस्त करना चाहती है!'

: ३ :

अगले दिन अनायास ही, एकादशी के सामने फिर बात आई, उस दिन के प्रातः ही उसकी एक सहेली ने आकर कहा—'एकादशी बहिन, इस मन्दिर के पुजारी अनन्त को क्या हो गया है कि कभी वह देवता की मूर्ति के समक्ष होता है और कभी कुछ सोचता दिखाई देता है। मैं कई बार उसे इसी प्रकार बैठे देख आई हूँ। मैं कल ही देर तक मन्दिर के द्वार पर खड़ी होकर देखती रही कि अनन्त मूर्ति के सामने बैठा हुआ रो रहा था। कुछ मुँह से कह भी रहा था। मुझे सुनायी कुछ नहीं दिया, बस, मैंने इतना सुन पाया कि वह देवता को लक्ष्य करके कह रहा था—प्रभो, मेरी पूजा-अर्चना का प्रसाद सब उसी को दे दो। उसके कोमल हृदय पर अपने आशीष का हाथ रख दो। उसे सुखी बनाओ। उसने जैसा बचपन में मुझे प्यार किया, तो वैसा ही आज···उसे महानता प्रदान करो, मेरे स्वामी!

सखी ने फिर कहा—'क्यों, एकादशी! भला यह अनन्त का पागलपन नहीं था क्या; जरूर, वह पागल हो गया है। लोग भी यही कहते हैं। जाने वह मन्दिर के देवता से किसके लिये आशीष माँग रहा था। वह·········अनन्त·······

सखी के जाने पर, एकादशी उसकी सुनी हुई बात को एकाएक नहीं भूल सकी। जिस समस्या पर वह टिकी थी और अपने-आप में

विषम बन गयी थी, जब फिर अनन्त की बात उसके समक्ष आई-- तो वह और अधिक खिन्न तथा उदास होगयी। उसे लगा कि जैसे जमीन हिल रही है। आसमान भी हिल रहा है। मानो उसके चारों ओर अन्धेरा है। कुहरा छाया हुआ है। एकादशी रातभर अनन्त की बातों में उलझी रही, अनेक प्रकार की दुराशा भरी कल्पनायें कर सकी थी। उसने निश्चय किया था कि अब वह अनन्त की ओर नहीं जायेगी। उसकी कल्पना नहीं करेगी। उससे कुछ नहीं कहेगी। परन्तु जब उसकी सखी प्रियम्बदा ने अनन्त की बात कही, तो फिर उसका हृदय डोल गया। वह पिघल गया। कातर बन गया। एकादशी ने अत्यन्त दयामयी बनकर, अपने आप कहा—अनन्त मेरे ही प्रति कह रहा था। वह मेरे जीवन को पखारने के लिये अपने आँसू बहा रहा था। भगवान से याचना कर रहा था। भला क्यों? किसलिये? उसने कहा, अनन्त को उसी से ममता है। प्रेम है, वह केवल इसी आधार पर इस गाँव में पड़ा है। वह मेरे लिये की बेचैन और दुःखी है। मैंने अपनी बात कह कर उसके साथ न्याय नहीं किया। शान्त और स्थिर जल को झकझोर दिया, अनन्त को दुःखी बना दिया।

अपने मन की उस अवस्था में ही एकादशी एक नयी दिशा की ओर पहुँच गयी। वह अनन्त की गुरुता और भारीपन देखने लगी। वह इतना समझने में भी समर्थ बन गयी कि उसने अब तक अनन्त को जिस रूप में देखा, उसमें कहीं छिपाव नहीं। अनन्त परोक्ष नहीं। उसे लगा कि अनन्त पत्थर नहीं, इन्सान है। उसके पास ममता है, प्यार है। किन्तु वह उसे व्यक्त नहीं कर पाता। वह उसे भोगना और पाना भी पसन्द नहीं करता। यही उसकी महानता है। अनन्त की यही श्रेष्ठता है।

इस प्रकार उस दिन और रात में एकादशी के अन्दर जिस प्रकार की भावनाएँ अनन्त के प्रति उठीं, वे जहाँ उसमें विद्रोही भाव पैदा कर सकीं, वहाँ उसे अनन्त के समीप भी ले जाने में समर्थ बन गयीं। बल्कि हुआ यह कि एकादशी में अनन्त के प्रति इस बात की प्रबल जिज्ञासा जाग उठी कि वह उसे खोजे और एकबार फिर प्राप्त करने का प्रयत्न करो। एकादशी के मन में यह व्यग्रता भी आई कि अनन्त दुःखी है, एकाकी है। वह अशांत है आखिर क्यों ? क्या मेरी बात के कारण ? अपने मन की इस धारणा भरे सन्देह को लिये, उसने निश्चय किया कि वह अनन्त के पास नहीं जायेगी। उसे दुःखी नहीं करेगी। बस , उसे देख लेगी और सुख मानेगी। वह यह कदापि नहीं चाहेगी कि अनन्त दुःखी हो। वह अपना सर्वस्व देकर इस सुहावने और कोमल अनन्त को प्रसन्न बना हुआ देखेगी। अनन्त निर्मल है। उसकी आत्मा गंगा के जल के समान है। तो वह भी उसे वैसा ही रहने देगी।

इस निश्चय के साथ ही एकादशी ने स्थिर किया कि वह अनन्त से क्षमा मांगेगी। उससे स्पष्ट कह देगी, नहीं, अनन्त, मेरी बात पर न रहना। वह मेरा उन्माद था। उसने ही मुझे अविवेकी बना दिया था। तुम्हारे मन को दुखाना मेरा अभिप्राय न था। सच, मुझे लज्जा भी हुई और दुःख भी हुआ।

उसी दिन एकादशी के यहाँ मेहमान आ गये। उनमें फूआ, फूफा और एक अपरिचित युवक सुनील बाबू ! उन अतिथियों के आने पर एकादशी बरबस ही अनन्त की बात भूल गयी। वह उसके पास आ भी नहीं सकी। संध्या होते-होते उसने फूआ से सुना कि वह अपनी एकादशी का विवाह करने आई है। उस प्रसंग में ही फूआ ने इस रहस्य का

भी उद्घाटन किया कि यह सुनील ने इसी वर्ष बी० ए० पास किया है। घर में माँ है, और कोई नहीं है, सम्पन्न घर है। माँ की आज्ञा मिल चुकी है। बस एकादशी की स्वीकृति की देर है। इसी हेतु यह सुनील साथ लाया गया है। लोग लड़की देखते हैं, पर मेरी एकादशी को तो लड़का देखना है। उसे समझना है। फूआ ने कहा—देख लिया न कि यह सुनील सुन्दर है। शरीर से पुष्ट है। चतुर है। पर मैं कहती हूँ कि मेरी एकादशी भी हजारों में एक है। परी-सी सुन्दरि और चांद-सी निर्मल!

एकादशी ने इतना सुना तो वह फूआ की वाक्-पटुता पर मुस्कराई और होठों से हँसी, एकाएक वह अपना मत नहीं दे सकी।

फूआ फिर बोली—तुम्हें मेरी बात मान लेनी होगी, एकादशी! मैं नहीं चाहूँगी कि मेरे भाई की सन्तान यों देर तक अकेली रहे। तू अब सयानी और जवान हुई एकादशी! भला कब तक इस तरह रहोगी; मैं अब तुझे इस तरह नहीं रहने दूँगी। इस सुनील को देख ले और समझ ले। आजकल यही तो रस्म है। पढ़े-लिखों की यही रीति है। तू भी पढ़ी है। अपना भला-बुरा समझती है।

फूआ की बात सुनकर, सकुचाये भाव में एकादशी बोली—सुनील बाबू को यह सब मालूम है, फूआ?

फूआ ने कहा—शायद अभी नहीं। मैंने तो इसकी माँ से बात की थी, इससे नहीं। उसकी माँ ने कुछ कहा हो, तो हो!

एकादशी बोली—'और यदि सुनील बाबू को मैंने पसन्द न किया, तो? तब क्या यह अच्छा होगा फूआ?'

यह कैसे होगा! फूआ ने अपने स्वर पर जोर देकर कहा—वह

तैयार है। जब उसको माँ ने स्वीकार कर लिया, तो फिर इन्कार का प्रश्न कैसा ? सुनील बड़ा समझदार और नेक है। अपनी माँ का आज्ञाकारी है, और मैंने कहा न, तेरे फूफा और मैं सुनील को साथ लेकर आये ही इसलिये हैं कि विवाह हो और जल्दी हो। अपने भाई के मरने के बाद तेरी फूआ इतना भी नहीं करेगी तो और क्या ? लड़का ढूँढ़ने तू तो जायेगी नहीं। यह काम तो तेरी फूआ और फूफा का है। सो हमने किया है।

उसी समय एकादशी कुछ कहने चली थी कि तभी द्वार पर अनन्त आकर खड़ा हुआ। अपनी बात छोड़ कर एकादशी ने अनन्त की ओर देखा। तभी उसने कहा—अनन्त, अभी आयी, यह मेरी फूआ है, आज ही आई हैं, यह कहते हुए वह खड़ी हो गयी और फूआ से बोली——अच्छा फूआ, अब तुम आराम करो। तुम्हारी बात सुन ली। जो-कुछ और कहना सुनना है, वह फिर बाद में। यह कहते हुये वह कमरे के द्वार पर पहुँची और अनन्त को साथ लिये सामने कमरे की ओर चल पड़ी। कमरे की ओर जाते-जाते उसने अनन्त से कहा-'मैं स्वय ही तुम्हारे पास आती। आज नहीं तो कल अवश्य आती। तुमसे क्षमा माँगती।'

कमरे में जाकर, कुर्सी पर बैठते हुए, अनन्त बोला—'दीखता है, मेरी तरह तुम भी अव्यवहारिक हो। भावुकता में कुछ कहना चाहती हो।'

'नहीं, अनन्त ! सच, मेरी बात से तुम दुःखी हुए। तुम अप्रसन्न हुए।'

तुरन्त ही अनन्त ने फिर अपनी वाणी पर जोर दिया—'एकादशी ! जाने क्यों, मुझे सभी कुछ विपरीत लगता है। मैं स्वयं ही उलझन में था कि तुम मन्दिर से अपनी ठीक स्थिति में नहीं आई। मुझे लगा कि तुम रूठ कर, कुछ मनमें लेकर आई, इसीसे तो मैं अबआया हूँ। सोचा,

तुमसे फिर कह आऊँ कि इस अनन्त में ऐसी कोई गुत्थी नहीं है, जो न सुलझाई जा सके। यह देवता नहीं है, यह आदमी है। यह भी अपनी वासनाओं का दास है, इसका पूजने का काम है, अपने को पुजाने का नहीं। दूसरों की सेवा करना, दूसरों के सामने नत होना इसे अच्छा लगता है। यही इसने सीखा है।'

एकादशी ने अनन्त की बात सुन तो ली, पर मत नहीं दिया। उसके मन में तो उस समय फूआ की बात घूम रही थी। उसी को लेकर बोली—"तुमने कुछ और भी सुना, अनन्त! यह फूआ मेरे विवाह की बात लेकर आई है। साथ में वर भी।"

उस समय बिना अचम्भित बने, अनन्त ने कहा ठीक तो है। फूआ बुजुर्ग हैं। वह दुनियादारी को समझती हैं। तुम्हें विवाह कर लेना चाहिये।

'किन्तु इसके अपवाद तो तुम भी हो! एक मैं ही क्यों?' एकादशीने तुरन्त ही कहा।

यह सुनकर, अनन्त हँसा नहीं, मुस्कराया भी नहीं। उसने बाहर की ओर देखते हुए कहा—'हाँ, ठीक तो है! पर जो अनन्त सदा अन्धकार और शून्यता ही देखता है, उसे यह सब क्यों? न, एकादशी, ऐसे आदमी को यह उचित नहीं। वह अपने जीवन के साथ विरोध रखेगा ही, साथ ही, एक नारी की उमंगों और उसकी लालसा भरी दुनिया में भी अन्धकार फैला देगा। निश्चय ही विवाह करके यह अनन्त उस नारी को छलेगा...उसके जीवन के साथ भयानक और क्रूर खेल खेलने में समर्थ बन सकेगा!'

अपनी बात कहने के साथ ही, अनन्त ने नहीं देखा कि जो एकादशी

उसकी बात सुनने से पूर्व खिलती हुई सुगन्ध भरी कलीके समान लगी वह तब एकबारगी पीली और उदास हो गयी। वह अनन्त की बातों में डूब गयी। मानो उन बातों में इतनी गहराई थी कि वह अपना अस्तित्व भी खो बैठी। उसने लम्बी साँस ली और छोड़ दी। उसी प्रकार अनमनी-सी बन वह फिर अनन्त को टंकोरती हुई बोली—'तो यों कहो न कि तुम विवाह नहीं करोगे! जीवन भर अकेले रहोगे···तुम····

अनन्त ने कहा—'यह क्षुब्ध होने की बात नहीं है, एकादशी! मेरी अवस्था की बात है!

एकादशी ने कहा—हाँ, हाँ, मैंने भी कहा तो! मैं भी चाहूँगी कि तुम सुखी रहो। शान्त रहो।' और तभी उसने कुछ खिन्न बने स्वर में कहा—अब तक सुना था कि किसीके भी मन-मन्दिर की संजोवी प्रतिमा मिट नहीं जाती, मूकभी नहीं बन जाती। वह खण्डित नहीं होती। पर नहीं, सभी झूठ है। मिथ्या है। लगता है कि जैसे सभी कुछ मन को समझाने की बात है। कहते हुए एकादशी खिड़की के पास जा खड़ी हुई। वह सामने संध्या के बढ़ते हुऐ अन्धकार की ओर देखने लगी।

उसके पीछे ही, कुर्सी छोड़कर, अनन्त भी पास पहुँचा और एकादशी की ठीक पीठ पर जाकर बोला—'एकादशी, मैं नहीं जानता था कि मेरे आने पर तुम फिर इस प्रकार बन जाओगी। अच्छा, अब मैं जाऊँगा। देखता हूँ कि मैं तुम्हें नहीं समझा सका। जिस प्रवाह में तुम प्रवाहित हो, मैं तुम्हें उससे नहीं रोक सका', यह कहते हुए अनन्त कमरे से चला और बाहर हो गया।

: ४ :

अव्यवस्थित और अशान्त बनी एकादशी को छोड़ अनन्त जैसे ही उस घर से निकल पड़ा कि तभी एकादशी की फूआ ने उसे रोक कर कहा, तुम मन्दिर के पुजारी हो भैया ! भला कहीं इस तरह जवान और सयानी लड़की के साथ बैठ कर बातें किया करते हैं। तेरा बाप तो बड़ा भला और नेक था। सुनती हूँ तू ने भी बहुत पढ़ा है। शास्त्रों का पाठ किया है। तो भैया, तुम्हें इतनी भी समझ नहीं कि इतने बड़े घर में कैसे आना चाहिये। किसी के घर की प्रतिष्ठा को जान-बूझ कर आघात नहीं पहुँचाना चाहिये। तुम्हें कोई काम हो, तो मन्दिर से कहला भेजा करो। तुमने भी सुना न, अब एकादशी बिटिया का विवाह हो रहा है। वर तुमने भी देखा ! बड़ा योग्य और सुशील है।

उस समय अनन्त जितनी देर वहाँ खड़ा रहा, उसे लगा कि जैसे धरती हिल रही हो। उसके चारों ओर अन्धेरा हो। वह अत्यन्त कातर बन गया। एकादशी की फूआ ने जिस उदण्डता के साथ, अप्रत्याशीत रूप से उससे अपनी बात कही, उसे सुन, वह स्तब्ध रह गया। एकबारगी घृणा और लज्जा का भाव भी उसमें आ गया। उसी अवस्थामें वह बोला—अच्छा, अच्छा, अब नहीं आऊँगा। यह कहते हुए, वह तीव्रता से पैर बढ़ा उस फूआ की दृष्टि से ओझल हो गया।

अनन्त चला गया। वह अपनी अन्धेरी कोठरी में जाकर चारपाई पर गिर पड़ा। एकादशी की फूआ ने उससे जो कुछ कहा, वह अभी भी, शूल की तरह उसकी छाती में चुभ रहा था लाँछना और प्रतारणा की उस

मनोदशा को लिये हुए ही, वह देर तक करवट बदलता रहा। उसी अवस्था में सो गया।

परन्तु अनन्त की उस स्थिति से अपरिचित बनी एकादशी अपनी बात पर टिकी थी। उस रात वह बहुत देर में सोई। वह तब भी अनन्त की सीमा से बाहर की बात ग्रहण करने में असमर्थ थी। उसकी यह सबसे बड़ी विवशता थी।

निःसन्देह, एकादशी की अजीव स्थिति थी, वह सब कुछ भूल कर भी, यह नहीं भुला पाई कि यह वही अनन्त है कि जिसके साथ बैठ कर उसने अनेक बार कहा था कि मैं तेरी हूँ और तू मेरा है। बचपन का वह सम्बन्ध जैसे उसकी दृष्टि में अपरिवर्तनीय था। अमिट और अटूट था। जब अनन्त बाहर पढ़ने गया, वर्षों रहा तो तब भी वह उसी की कल्पना करती रही। इसलिये वह सुगमता से उसे नहीं भूल पायेगी। वह उसे नहीं छोड़ सकेगी। यह असम्भव है।

इस प्रकार एकादशी के समक्ष एक बात आती और एक जाती। वह इच्छा करके भी अनन्त के प्रति उपेक्षित तथा उदासीन नहीं बन पाई। उस अवस्था में ही, वह अपने से प्रश्न करती—'तो क्या अनन्त प्रेम की रीति नहीं जानता? फिर वह क्यों प्रतिबन्ध करता है? क्या इसलिये कि मैं मन्दिर की स्वामिनि हूँ? सम्पन्न हूँ? वह क्यों कहता है कि मैं तुम्हें पूजता हूँ, तुम्हें सदा ही पूजता रहूँगा और तभी उसने खीझकर कहा—वह खाक पूजता रहेगा! अनन्त बुद्धू है! वह जानता ही नहीं प्रेम का सार! वह मुझ से विवाह नहीं करना चाहता। वह विवाह नहीं करेगा।

उसी समय एकादशी ने देखा कि कमरे के द्वार पर सुनील आकर खड़ा है। वह मुस्करा रहा है। उसे देखते ही, एकादशी बोली—'आइये, सुनील बाबू।'

सुनील कमरे में पहुँच गया। वह एकादशी के पलँग के पास पड़ी कुर्सी पर जाकर बैठ गया। दिन में जब वह आया था, उसी समय वह, बड़ी सुगमता से एकादशी से बोल सका था और घनिष्ठता बढ़ाने में समर्थ हुआ था। तब भी, वह कुर्सी पर बैठते ही बोला—'मैं सोने के लिये जा रहा था कि इधर देख पाने में समर्थ हो गया। पर लगता है कि तुम किसी विचार में हो। किसी समस्या में उलझी हो। तब मैं जाऊँ। पड़ रहूँ। मुझे तो रात में देर से सोने की आदत है। शहर में तो सिनेमा है, दोस्त हैं, पर गाँव में क्या...हाँ, यहाँ क्या! बस, तुम हो, तुम्हारा यह विशाल महल है। सच, बड़ा कैदखाना है।' यह कहते हुए सुनीलने साँस भरी और फिर बोला—'मैं तो आजकल बेकार हूँ। कालेज से क्या छूटा, जीवन का मोड़ ही बदल गया। तुम्हारी फूआ ने कहा तो कि यहाँ बाग है, नदी है, मुझे तुम्हारे साथ घूमना है। पर मैं तो संध्या समय प्रतीक्षा ही करता रहा। एकबार इधर आया भी जो उस समय यहाँ कोई बैठा था। मैं लौट गया।'

एकादशी ने कहा—वह मन्दिर के पुजारी थे। उनसे बात करते वह बड़े विद्वान हैं। कई भाषाओं के पण्डित हैं। अंग्रेजीमें भी एम० ए० हैं।'

सुनील ने कहा—'पर देखने से कुछ नहीं जान पड़ता। 'मैंने समझा है कि बहुधा जिस प्रकार लोग धन पाकर उसका उपयोग करना नहीं जानते, उसी प्रकार विद्या प्राप्त करके भी अधिकांश लोग उससे काम नहीं ले सकते। ऐसे ही हैं तुम्हारे ये अनन्त बाबू! भला इस गाँव में क्या है। ऐसे व्यक्ति को मन्दिर की पूजा करना क्या शोभता है!' यह कहते हुए सुनील ने हाथ में ली हुई सिगरेट का अन्तिम कश खींचा और उसे बाहर फेंक दिया। तभी वह उठा और बोला—'अच्छा, अब मैं तुम्हारा अधिक समय न लूँ तो ठीक होगा। मैं चलूँ।'

सुनते ही, एकादशी ने कहा—'नहीं, नहीं, आप बैठिये।'

ना,

सुनील फिर बैठ गया। वह बोला—यह कहाँ की रीति है कि मैं व्यर्थ ही तुम्हारा मेहमान बन गया। जान न पहचान, बड़े मियाँ सलाम। पर तुम्हारी फूआ खींच लाई। कहिये, आप घूमने नहीं जाती हैं, क्या! शायद यहाँ पढ़ना भी कम चलता है!'

एकादशी ने कहा—'जी नहीं, मैं पढ़ती खूब हूँ। घूमती भी हूँ। कभी घोड़े पर, कभी पैदल। आप बताइये, शिकार खेलते हैं आप? घोड़े पर चढ़ लेते हैं?

सुनील ने कहा—'शिकार कभी नहीं खेला, वैसे खेलने की इच्छा जरूर रखे रहा। कभी घोड़े पर भी नहीं चढ़ा।'

एकादशी बोली—'यदि चाहे तो आप अपनी इस इच्छा को यहाँ पूरी कर सकेंगे। कल ही मुन्शी से बन्दूक लीजिये और घोड़े पर चढ़कर शिकार खेल आइये।'

'और तुम,—तुम भी चलोगी न?'

'मैं शिकार नहीं खेलती। बन्दूक भी नहीं चलाती। वैसे बन्दूक है, जो यों ही रखी है। हाँ, आपके साथ चली चलूँगी आप का निशाना भी देख लूँगी।'

इतना सुन सुनील जोर से हँस पड़ा। उसी अवस्था में वह बोला—तब तो मैं तुमसे कम-से-कम नम्बर पा सकूँगा। निश्चय ही, यह अनाड़ी शिकार पर बन्दूक चलाने के बजाय, अपने पर चला लेगा।'

'क्यों? क्यों?' एकादशी ने पूछा।

सुनील कुछ कहने चला था कि तभी द्वार पर फूआ ने एकादशी को

लक्ष्य करके कहा—'अब सो जाओ, एकादशी ! सुनील तुम भी। देख, तू समय पर सो जाया कर भैया ! तेरी माँ ने जो सार-सम्भाल का भार मेरे ऊपर डाल दिया है, तो उसमें एक यह भी काम है कि सुनील देर तक न जागे, ओस में न सोये और·······

सनील ने बीच में ही कहा—'और कभी ज्यादा-कम खाना न खाये आवारा की तरह न फिरे, क्यों ? कहते हुए वह हँसा और फिर बोला—'माँ' का कैदखाना तो अब छोड़कर आया हूँ। अब एक आप और, अच्छा !

फूआ ने कहा—'बेटा, अब समय भी अधिक हो गया। शायद बारह से ऊपर। अब जाकर सो। एकादशी तू भी।'

एकादशी ने कहा—अच्छा, फूआ !

सुनील खड़ा हो गया। वह एकादशी और फूआ को छोड़ अपने सोने वाले कमरे की ओर चला गया। तभी उसके बाद ही, फूआ ने एकादशी से कहा—'क्यों एकादशी, सुनील से बात कर पाई न ! बड़ा सुशील और सरल है। देखा, इतना पढ़-लिखकर भी यह गरूर नहीं रखता ! बड़े बाप का बेटा है।' यह कहते हुये फूआ चलने लगी और बोली—'अब रात बहुत चली गयो। दिखता है, तू खाने-सोने के समय का ध्यान नहीं रखती। तभी रोगी हो गयी, दुबली-दुबली।

एकादशी बोली—अब तुम भी सो रहो फूआ !

फूआ चली गयी। एकादशी पड़ गयी। उसने लैम्प की बत्ती को कुछ हल्का कर दिया। अपने हाथ को माथे पर रखकर कमरे की छत की ओर देखते हुये उसने अपने आप कहा—'एक यह सुनील है, जो हँसना और हँसाना ही चाहता है। दिखता है, इसे रोना पसन्द नहीं आता। आ भी नहीं सकता ! वह बोली—यह सुनील

भाग्यशाली है। इसने सुखी जीवन पाया है। बोलता है, तो जैसे हँसता है। होठ खुलते हैं, तो फूल से झड़ते हैं।

एकादशी ने चादर ओढ़ ली। वह आँख मूदने के साथ उस क्षण फूआ से सुनी हुई बातों के अतिरिक्त सुनील की कल्पना में डूब गयी और सो गयी।

जब प्रातः हुआ, तो वह नित्य की तरह समय पर नहीं उठ सकी वह दिन चढ़े तक सोती रही। फूआ आई, तब कहीं जग पाई। उसने जगते ही, फूआ की ओर देखकर कहा—'मैंने आज बड़े स्वप्न देखे, फूआ।

फूआ ने पूछा—'अच्छे तो देखा?'

एकादशी ने कमरे से बाहर जाते-जाते प्रसन्न और इठलाते हुए भाव में कहा—'हाँ फूआ, सभी अच्छे और सुहावने!' तब वह जाती हुई अपने आप बोली—रात भर ही यह सुनील सामने रहा। यह हँसता रहा और मुझे भी हँसाता रहा।

दोपहर हुआ। सभी ने भोजन किया। फिर एकादशी ने स्वयं ही सुनील को लक्ष्य करके कहा—'आज नदी पर चलियेगा, जरूर!'

सुनील ने हँसते हुए कहा—'घूमने के नाम पर मैं सभी क्षण तैयार हूँ। अभी तक घूमना, खाना, सोना और पढ़ना ही करता आया हूँ।'

'अच्छा, आइये! उस कमरे में बैठें। आप से शहरों के विषय में बात हो।' एकादशी ने कमरे की ओर बढ़ते हुए कहा—'देखिये, मेरे पास किताबों की बड़ी संख्या तो नहीं है, पर जो हैं, वे पठनीय हैं। पिताजी को किताबों का बहुत शौक था। जब अनन्त इस गाँव में आया, तो उसी के कहने पर गाँव में पुस्तकालय खोला गया। वे सभी किताबें वहाँ भेज

दीं। हजारों रुपये की किताबें थीं। अनन्त अब भी उसी पुस्तकालय में बैठता है, पढ़ता है। मानो पढ़ना ही इसके जीवन का धन्धा है।'

उस समय सुनील को यह अच्छा नहीं लगा कि यह एकादशी जब देखो तभी उस अनन्त का प्रसंग छेड़ती है। उसकी प्रशंसा करती है। रात भी उसने यही अनुभव किया, किन्तु उसने अपनी ओर से कुछ नहीं कहा।

तभी कमरे में जाकर एकादशी ने हँसते हुए कहा—'आप कहेंगे तो कि देहाती भी कैसे होते हैं? यह कैसी है एकादशी? बात करने का शऊर भी नहीं जानती। अतिथि का सत्कार करना भी नहीं समझती सो, आप से कहे देती हूँ कि यहाँ कोई दुराव की बात नहीं है। यह देहात है। जो पेट में, वही बाहर है। यहाँ दुराव कम होता है।' यह कहते हुए उसने कमरे की एक अलमारी की ओर संकेत किया और कहा—'जब मैं दसवीं में पढ़ती थी तभी ये किताबें खरीद लाई थी। पिताजी ने भी ये किताबें पसन्द की थीं।'

सुनील ने देखा कि कमरे में कई आलमारियाँ हैं। उनमें किताबें हैं। कुछ अन्य समान भी हैं। सभी पढ़ने-लिखने से सम्बन्धित हैं। दीवारों पर बड़े-बड़े तैल-चित्र लगे हैं। जिनको दिखाते हुए एकादशी ने बताया ये मेरे पिताजी हैं, वे बाबाजी! पिताजी को उर्दू और फ़ारसी की शायरी पढ़ने का भी शौक था।

सुनील ने उन दोनों को देख, सहज ही समझ लिया कि जरूर ये प्रभावशाली व्यक्ति रहे होंगे। इस गाँव में इनका एक छत्र राज्य होगा।

उसी समय फूआ भी वहाँ आ पहुँची। एकादशी के फूफा उसी दिन प्रातः ही लौट गये थे। फूआ को देख, सुनील बोला—'देखा, तुम्हारी

एकादशी अभी से मुझे उल्लू बना रही है। कहती है कि हम देहाती हैं····हम गँवार ! और मैं पूछता हूँ ये ठाठ क्या कभी शहरियों को प्राप्त होते हैं। ये सुविधायें भला शहर में किसको मिलती हैं।'

फूआ ने कहा—'मेरी एकादशी भी शहर में पढ़ी-लिखी है। किसी से कम नहीं।'

ओह ! तो कहो न, फूआ और भतीजी। एक ही पाठ पढ़ा है। तुमने भी मेरी माँ से कहा था कि गाँव की लड़की है, सीधी है ! रामराम ! सभी विपरीत ! पर मैं दोनों से कहूँगा कि यह सुनील जब तक यहाँ रहे, समझियेगा कि यह बिलकुल गधा है, दुनिया की रीति से अजान ! यह तो आँख मूँद कर तुम्हारे आदेश का पालन करेगा।'

हँसकर एकादशी ने कहा—'आइये, आइये ! इसकी ओर चलें। आपको जिन चीजों की आवश्यकता हो, बिना संकोच कह दीजियेगा। जैसे सिगरेट, पान आदि हो सकता है। कुछ सामान गाँव में नहीं मिलेगा। पास ही कस्बा है, वहाँ से मँगा दिया जायेगा।'

सुनील बोला—'यहाँ आकर तो लगता है, जैसे नयी दुनिया में आ गया। कोलाहल से दूर, निरा शान्ति और अपनत्वता से भरा वातावरण। सच, यहाँ मन लगता है। कितना सुहावना है, यहाँ का प्रत्येक क्षण !'

इतना सुनकर एकादशी बोली—'सभी एक-दूसरे को अच्छा समझते हैं, सुनील बाबू ! वैसा ही आप ! गाँववाले शहरवालों को भाग्यशाली मानते हैं।'

किन्तु सुनील ने तुरन्त कहा—'नहीं, नहीं, यहाँ के लोग सुखी हैं। अपने भाग्य से सन्तुष्ट हैं। यहाँ के जीवन में अधिक स्पष्टता और

सात्विकता है। आज यन्त्र युग है न, तो शहर का आदमी भी वसा ही बन गया है। वह पैसे का दास हो गया है।'

बात सुनी, तो एकादशी ने अपना मुँह बाहर की ओर उठा दिया

सुनील ने फिर कहा—'तुम्हारे प्रति फूआ से जितना सुना, उससे अधिक पाया, देखा।'

फूआ वहाँ से जा चुकी थी। बात सुनकर एकादशी ने सुनील की ओर देखा और कहा—'आपने क्या सुना? क्या देखा?'

सुनील बोला—'मैं देखता हूँ कि जो नारी की देन है, उसकी श्रेष्ठता है, वह तुम्हारे पास है। मुझे दीखती है। तुम जितनी सुन्दर और कोमल हो, स्पष्टतः उतनी ही भावनामयी हो। वही मैंने जीवन में प्रथमबार वहाँ आकर देखा है। वैसे जो ममता नाम की वस्तु है; इस सुनील ने अपनी माँ के पास ही देख पाई। उसी की गोद में पला-पोसा गया और स्कूल में पढ़ता रहा। मैं आज तक अपनी एक बहिन को छोड़, किसी अन्य नारी से बोल भी नहीं सका। किसी का परिचय नहीं पा सका। अब मिली हो तुम, स्नेहमयी····प्रेरणा मयी····।

एकादशी ने कहा—आप मेरी अधिक प्रशंसा मत कीजिये सुनील बाबू! मैं इतने बोझ से दब जाऊँगी। मैं इसे सम्भाल न सकूँगी। इतना कहने के बाद हो, एकादशी को याद आया कि जाने कितनी बार वह अनन्त से लड़ी, जाने कितनी बार उस पर स्वामिनी बनने का प्रभुत्व प्रकट कर पाई, पर जैसे उसने कभी भी कुछ नहीं सुना। वह हँस दिया और मुस्करा दिया। एकबार उसने कहा था कि आयु बढ़ने से शरीर बोलता है, सान नहीं बोलता, यों आत्मा का अमरत्व पाप्त नहीं हो सकता। यह दम्भ क्या स्थायी रहेगा। तभी एकादशी ने सुनील ने कहा—हाँ,

सुनील बाबू, मैं इस प्रशंसा के योग्य नहीं···मैं निरी अयोग्य हूँ !

सुनील बोला—'आइये, अब घूमने चलें। नदी की ओर चलें। दिन जा रहा है। ढल रहा है।'

एकादशी ने कहा—'चलिये।' कहते हुए खड़ी हुई और दूसरे कमरे में जाकर साड़ी बदलने लगी। जब वह लौट कर सुनील के सामने आई तो बोली—'आइये, आपको हरे-हरे खेत और नदी की लहरें दिखाऊँगी बन्दूक लीजियेगा ? कीजियेगा शिकार ?'

सुनील बोला—'हाँ, हाँ, बन्दूक क्यों न ली जाय। अच्छा लगता है। शिकार तो मैं क्या कर सकूँगा, पर बन्दूक की गोली छोड़ कर अपना शौक पूरा कर लूँगा। मैं निशाना नहीं बाँध सकता।'

एकादशी हँस पड़ी। जब वह दरवाजे पर गयी, तो मुन्शीजी से बन्दूक और कारतूस माँग लिये। उसे सुनीलने ले लिया। उसी समय उसने कहा—'चलिये, कोई देखेगा, तो कहेगा, शिकार मारने जा रहे हैं, बाबूजी !' और इतना कह उसने बरबस ही ठहाका मार दिया।

सुनील उस समय एकादशी की पोशाक देख रहा था। जिस साड़ी को वह बदल आई थी, उसे पहनकर भली लग रही थी। सौन्दर्य उस पर फूटा पड़ रहा था। जब एकादशी की बात सुनी, तो वह जैसे चौंक कर बोला—'मुझे यह उपाधि असंगत नहीं लगती। कोई देगा तो सहर्ष ले लूँगा।'

दोनों चल दिये। जब वे गाँव के गलिहारे से आगे बढ़ गये तो रास्ते में पड़े हुए कुँए की पनिहारिनों ने कुँए में फँसे अपने मटकों को रोक कर उन दोनों को लक्ष्य कर एक दूसरी से इशारा किया और पूछा—'अरी, यह कौन आया है जमींदार के यहाँ ! कोई बाबू है। शहरी

दीखता है। जमींदार की लड़की के साथ-शिकार करने चला है।'

दूसरीने कहा—'ऊँह, होगा ही कौन ? यह भी कोई चाहता होगा। देखती नहीं, मालकिन खुद कैसी झम्झम् करती हुई साड़ी पहन आई है।'

तीसरी बोली—'बड़े घर की बात, शरम न लिहाज ! भला जवान लड़की, इस तरह किसी दूसरे के साथ·······।'

'अरी चुप ! चुप !' एक बोली—'तू जानती नहीं, सुन लेगी, तो जबान खींचवा देगी, समझी ! जब देखना, दोनों नदी पर पहुँचे नहीं कि बन्दूक की हुई ठाँच-ठाँच····'

उन्हीं के पास खड़ी एक जवान लड़की ने हँसते हुए कहा 'अजी, देखना, कहीं बाबूजी खुद न शिकार हो जायें। चले हैं बन्दूक लेकर। बाप ने चाहे चिड़िया भी न मारी हो ! पर जमींदार के यहाँ जो आये हैं। बस, अब लाये, शेर मारकर !' यह कहते हुए वह स्वयं खिल खिला कर हँस पड़ी।

तभी दूसरी हँसती हुई बोली—'शेर क्या, गीदड़ ही मार लायें, तो समझो ! बाप ने न मारी लोमड़ी, बेटा तीरन्दाज !'

इतनी देर में सुनील और एकादशी दूर निकल गये थे। प्रस्तुत प्रसंग को छोड़ उन पनिहारिनों में एक अपने काम में लगती हुई बोली—'क्यों जी, यह लड़की क्या बुढ़ी होकर अपना ब्याह करेगी, यह उमर तो हुई।'

ऊँह, तूने भी भली कही, चमेली, ! अरी तू नहीं जानती, बड़े आदमियों की सार ! बस, चुप ही रख, जो कर न देखें, सो भला !

हाँ, जी, हाँ ! चमेली ने कहा—ऐसे घरों की भाषा राम ही जाने !

उसी समय एकादशी और सुनील मन्दिर के पास पहुँच गये थे। एकादशी ने दूर से ही देखा कि अनन्त अपनी कोठरी के द्वार पर खड़ा है। वह नदी की ओर देख रहा है। पास पहुँचकर उसने चाहा कि अनन्त को टोके और सुनील का उससे परिचय कराये। परन्तु तभी उसने देखा कि अनन्त जैसे जान-बूझकर ही द्वार से हट कर कोठरी के अन्दर चला गया। यह एकादशी को अच्छा नहीं लगा। जैसे अनन्त का अभद्र व्यवहार था। अन्यथा उसे आशा थी कि उन दोनों को देखते ही अनन्त बुलायेगा। बैठने के लिये कहेगा।

तब एकादशी ने कहा—आपने यह मन्दिर देखा न?

सुनील बोला—मैं पत्थरों की पूजा नहीं करता। उन्हें देवता नहीं मानता। मैं आदमी की पूजा को छोड़कर अन्य की पूजा पसन्द नहीं करता।

किन्तु एकादशी ने उस समय सुनील की बात पर ध्यान नहीं दिया। क्योंकि उसके मस्तिष्क में तो जैसे ज्वर उठ आया था। उसे बरवस ही अनन्त ने उद्वेलित बना दिया था। वह स्वतः ही क्षोभ के साथ शीघ्रता से पैर बढ़ाने लगी और आगे जाने लगी।

नदी तट पर पहुँचते ही उसने अपने आप कहा—'अनन्त का पथ और है, मेरा और! वह सचमुच ही अनन्त है। मुझसे क्या समझा जा सकताहै ...नहीं! वह स्वतः खींचकर मुझसे दूर होना चाहता है। और तब उपेक्षा भरे भाव में कहा....वह समझता है कि मैं उसके प्रेम में डूब गयी हूँ....मैं उसी की कल्पना करती हूँ...मूर्ख! उसके पास खड़े और नदी की ओर देखते हुए सुनील को लक्ष्य करके आपने कहा—एक ये हैं सुनील बाबू, जो बरवस ही अपने पथ का निर्माण कर इस गाँव तक आ गये हैं। आते देर नहीं हुई कि घर और बाहर जाने की

कितनी बात करने में समर्थ हो चुके हैं। जैसे ये ही देर से मेरे आत्मीय रहे हैं पुराने सहयोगी और दुःख-सुख के साथी! अनन्त एकाकी और [illegible] जीवन चाहता है। वही भोगे! मुझे क्या! वह मेरा क्या!

और सुनील? बरवस ही फिर एकादशी के मन में प्रश्न उठा, उसने अपने-आप कहा—'यह सुनील का दुनिया का काम-काजी व्यक्ति है। यह व्याह करेगा, सन्तान उत्पन्न करेगा और तब अपने भरे-पूरे गृहस्थ को बसा कर दुनिया की रीति निभायेगा।

उसी समय सुनील ने उसे टंकोर दिया और चौंका दिया। वह बोला 'क्या यहीं बैठे रहना है, एकादशी देवी! वैसे जगह तो अच्छी है। यहाँ घास भी है। नदी में लहरें उठी हैं। भली लग रही हैं। जिसके साथ तुम..........सच, रूप की रानी!

एकादशी ने एकाएक सुनील की ओर देखा, जैसे उसे समझाना चाहा।

किन्तु तभी सुनोलने कहा—'क्षमा चाहता हूँ एकादशी देवी! मैं अपनी भावना को रोक नहीं सका। नदी के बांध के समान टूट पड़ा। मुँह से निकल आया। वैसे सत्य यही है तुम सचमुच ही स्वर्गीय हो, अप्सरा जैसी लगती हो। लगता है कि नदी में पानी गहरा है। मैं ऐसे ही पानी में तैरना पसन्द करता हूँ।'

बलात् एकादशी ने कहा—'तो आप तैराक भी हैं। गहरे पानी में उतरते हैं। मैं उतरती हूँ।'

यह सुन सुनील हँस दिया। वह बोला—'कभी मैं भी उतरता था। पर जब अनेक नदियों और नदों में उतरा तो डर जाता रहा। शहर में रहा हूँ, तो तुमसे बोल भी सका। मैं उस शिष्टता को रोक नहीं सका।

सामान्य ज्ञान की बात है कि कोई मिले, तो उससे परिचय हो आत्मियता का विकास हो।'

बात सुन ली, तो एकादशी ने अपना मत नहीं दिया। कदाचित् उससे नहीं दिया गया। जब देर तक वह मौन बनी रही, तो अपने ही विचारों में डूबते-उतरते हुए, उसने सुनील से पूछा—'अब चलियेगा, क्या ?' और स्वतः ही खड़ी होकर उसने लौट चलने का विचार व्यक्त किया।

किन्तु सुनीलने आश्चर्य से कहा—'अभी से !' फिर वह बोला—दिखता है, तुम्हारा मन नहीं लगा कहीं और ध्यान चला गया। किसी बड़ी गाँठ की गुत्थी सुलझाने में लग गया।' उसने कहा—'मुझे पता होता, तो तुमको यहाँ तक ले आने का भी कष्ट न देता। बताओ, क्या मेरी बात पर तुम्हारा मन क्षुब्ध हो गया। देखो, मैंने कुछ कहा हो, तो उसे यहीं छोड़ दो। नदी गहरी है, इसमें एक बात क्या, आदमी का भी पता न चलेगा।' यह कहते हुए उसने साँस भरा और कहा—'हम यहाँ तक आये, और चल दिये, न तुमसे मैं बोल पाया, न हँस पाया। देखो, मैं तो ऐसा ही जीवन पसन्द करता हूँ। बताओ तो, क्या मन में आ गया। हाँ, जानता तो हूँ कि बड़ा घर है, उसकी बड़ी बातें हैं। इसीसे तुम गम्भीर हो। वैसे, ऐसा कभी-कभी मैं भी बन जाता हूँ। मन चंचल है न, कहीं भी ले उड़ता है। अदृश्य को दृश्य बना देता है। पर ऐसा सभी जगह शोभा नहीं देता। यह तो वही हुआ कि 'आये थे हरिभजन को और ओटन लगे कपास !' हम दोनों इस नदी पर मन बहलाने, अपने परिचय को और अधिक परिष्कृत करने और इस नदी की

उठती हुई लहरों का आनन्द लेने आये थे, पर हुआ कुछ और ! मैं अलग चुप......तुम अलग........अच्छा, चलिये !'

'नहीं, नहीं, सुनील बाबू ! आप बोलिये और हँसिये। सच, आज कुछ मन ही ऐसा हुआ है। सचमुच ही।'

'मैंने कहा न, तुम किसी गहरी बात में उलझी हो।' सुनील बोला—'पर ऐसा भी क्या, यह तो स्वास्थ्य के लिये भी शुभ नहीं, एकादशी देवी ! वैसे घर चलना है, चलिये।' कहते हुए सुनील खड़ा हो गया।

दोनों लौट चले। कुछ चलकर रास्ते में फिर मन्दिर आ गया। उसके पास पहुँचते ही, एकादशी ने देखा कि अनन्त नीचे जमीन पर बैठा हुआ कुछ पढ़ रहा है। यह देख, वह रुकी नहीं। वह उसी चाल से आगे बढ़ गयी। घर जाकर वह सीधे अपने कमरे में चली गयी। सुनील बाहर ही रह गया। जब कुछ देर बाद वह एकादशी के पास पहुँचा, तो उसे देखते ही, उसने कहा—'आप जानते हैं न, जीवन भी एक पहेली है.......नारी के समान पुरुष भी एक समस्या है.......।'

सुनील ने उस अप्रत्याशित बात को सुन, बरबस कह दिया—'हाँ, जाने क्या है, यह जीवन ! मैं इस पचड़े में नहीं पड़ता। मैं तो जो कुछ देखता हूँ, उसे ही देखता और समझता हूँ।'

'और ईश्वर को मानते हैं, आप ?'

'जी, ईश्वर ! जी हाँ ! उसे समझना सबसे बड़ी समस्या है। मैंने कभी देखा तो है नहीं, अनुभव भी नहीं किया, पर सुना है कि ईश्वर है। हम सभी का मालिक है। इस जगत का स्रष्टा है। किन्तु मैं तो जिन आदमियों की बस्ती में बसता हूँ, जो करता और सुनता हूँ, वह सभी ईश्वरीय शक्ति हो, तो हो, इससे अधिक न मैं सोचता हूँ, न मानता हूँ।'

'तो यों कहिये कि आप नास्तिक हैं। ईश्वर को स्वीकार नहीं करते।'

'हाँ, यही कहना उपयुक्त होगा।'

'तो फिर आप अपने जीवन में क्या स्वीकार करते हैं? जब भगवान को नहीं मानते, तो भावना को भी नहीं?' जैसे अप्रतिभ बन कर एकादशी ने अपनी बात कही।

इतना सुन, सुनील ने हाथ में ली हुई सिगरेट को फेंक दिया। उसने कहा—'धन उपार्जित करना और उससे विश्व में निर्मित वस्तुओं का क्रय करके उपयोग करना मैं इन्सान का काम मानता हूँ। मैं यही मुख्य समझता हूँ। देखती तो हो कि जिस कीली पर संसार का चक्र घूम रहा है, उसी का नाम पैसा है। वही प्रतिष्ठा और सुख प्रदान करता है। जिसके पास पैसा नहीं, उसका क्या इस विश्व में कोई स्थान बनता है?'

'ओह, तब तो आप बिल्कुल पत्थर हैं—कठोर! आप जीवन में पैसा ही देखते हैं। उसी को मुख्य समझते हैं।'

यह सुनते ही सुनील हँस पड़ा। उसने कहा—'नास्तिक और आस्तिक के बीच की जिस दीवार पर टिकी हुई तुम जीवन की यथार्थता देखती हो, शायद मैं उसे स्वीकार न करूँ। मैं वास्तविकता को समझना पसन्द करता हूँ। कोरी भावना में क्या जीवन पाता हूँ। तुमने पढ़ा नहीं, कार्ल मार्क्स ने कहा है, धर्म अमीरों का नशा है, उनकी अफीम है। अतः मैं उसके चक्कर में पड़ना पसन्द नहीं करता।'

एकादशी ने मुस्कराते हुए कहा—'मैं विवाद नहीं करती। मैं तर्क करना नहीं जानती।'

किन्तु सुनील ने अपने पहिले स्वर में कहा—'नहीं, यह आवश्यक है। तर्क अच्छा है। दर्पण है। किसी समस्या को ठीक से पेश करता है। जब हम-तुम मिले हैं, तो क्यों न एक-दूसरे को समझ लें। जीवन की छोटी-

छोटी बातें भी कड़ुवी बन जाती हैं। वह प्रायः भली नहीं लगती।'

यह कहते हुए सुनीलने साँस भरी और बाहर आसमान की ओर देखता हुआ वह फिर बोला—'एकादशी देवी, तुम जानती तो हो कि हमारे बीच में फूआ की एक आकांक्षा है। तब यह सब असंगत क्यों? निश्चय ही हम दोनों ही जीवन-साथी की खोज में हैं। मैंने तो देखलिया और समझ लिया कि तुम्हारे साथ सम्बन्ध बनाना मेरे लिये अप्रिय न रहेगा। यह लिये सुखकर होगा। परन्तु बात तुम्हारी भी है। यह क्या आवश्यक है कि मैं तुम्हें पसन्द आऊँ? अनुरूप दिखाई दूँ?'

तभी चंचल बन कर एकाएक ही एकादशी ने अपने स्वर पर जोर दिया और कहा—हाँ, हाँ, इतना मैंने भी सुना, सुनील बाबू! पर उस विषय में तो अभी मेरा कोई भी निश्चय नहीं है। शायद मेरे लिये इतनी जल्दी भी नहीं है। अभी वह आवश्यक भी नहीं है। वही विवाह की बात न—हाँ, मुझे उस समस्या में पड़ना अभी शोभनीय नहीं है।' यह कहते हुए वह उठ खड़ी हुई और बोली—'मैं इस समय थकी हूँ। सच, बड़ी क्लान्त हूँ।' वह तुरन्त ही वहाँ से चल पड़ी और अपने कमरे में जाकर बिस्तर पर गिर गयी। तभी उसने बड़े खिन्न और वेदना भरे स्वर में कहा, नारी बनना भी पाप है,—सच पाप! और यह जीवन तो है ही जंजाल, न छूटता है,—न छूटने देता है,—हे मेरे राम!'

: ९ :

फिर भी फूआ द्वारा जो विवाह की बात चली, अन्ततः एकादशी उससे सहमत हो गयी। कई दिन के संघर्ष के बाद उसको स्वीकृति मिल

पाई। सुनील और अनन्त की तुलना में जब एकादशी कई दिन तक लगी रही, तो उसने अनुभव किया कि सुनील सांसारिक और व्यावहारिक व्यक्ति है। वह प्रेम के बदले में प्रेम देता है। अनन्त नहीं। वह केवल भावना और आदर्श की बातें करता है। वह जीवन के किसी अंश में भी व्यावहारिक नहीं। उसने तो सदा कहा, सांस्कृतिक बनो। देवता की पूजा करो। अनन्त सदा विरक्ति का नारा लगाता है। संन्यास लेने की बात करता है।

इसके विपरीत एकादशी जब अपने जीवन की गहराई में दृष्टि डाल कर देखती, तो पाती कि वह अनन्त की बात पर नहीं चल सकती, उसके पास इच्छा और आकांक्षा है। वह जीवन भर भोगना चाहती है। उसका कौमार्य उसे झकझोर रहा है। यौवन उसके जीवन-द्वार पर टेरें लगा रहा है। इसलिये वह निश्चित रूप से अनन्त के अनुरूप नहीं बन सकती। वह यौवनमयी और प्रेममयी नारी के रूप में कुछ और चाहती है। वह मधुर और स्नेहमयी-जीवन की घड़ियों का आनन्द लेना पसन्द करती है। वह रंग महलों में पैदा हुई है और उन्हीं में रहकर अपने दाम्पत्य-जीवन की झाँकियाँ देखना हितकर मानती है। वह चाहती है कि अपने जीवन-साथी के साथ एकान्त और एकमन होकर, सारे विश्व की ओर से आँख मूँद कर जीवन का सोहाग भोगे और पाये। उसकी आकांक्षा है कि इस नित-नित के बहते और खोते हुए जीवन में एकबार विभोर हो जाये··· उसी में लय हो जाने का अवसर पाये।

जिस दिन एकादशी ने सुनील के साथ विवाह करने की सहमति दी, उस दिन की रात में, जब वह सोने के लिये अपने कमरे में गई, तो नित्य की तरह एकादशी जाते ही नहीं सो गयी। वह पलंग पर बैठ गयी और अपने सामने को दीवार के आले में रखे अनन्त के एक फोटो को

देखने लगी। उस चित्र में भी अनन्त अपने चिरपरिचित और चिर-अभ्यस्थ वेष में था। सिर पर बिखरे हुये बाल और बदन पर जाड़े का कुरता पहिने हुये वह मुस्करा रहा था। उस अवस्था में भी वह बड़ा भोला और सुहावना लग रहा था,।

क्षणभर उस ओर देखने के बाद ही एकादशी ने अपनी दृष्टि फेर ली। फिर उसने उस ओर नहीं देख पाया। अपितु उसने अपने-आप कहा, अनन्त कई दिन से नहीं आया। उसने नहीं आना चाहा।

और तभी एकादशी ने फिर कहा—अनन्त आये तो, न आये तो! मुझे उसकी आवश्यकता नहीं। अब उसका न आना ही ठीक है। वह सोचता होगा कि एकादशी उसके लिये दीवानी बन गयी है। एकादशी··· तब जाने कितने रोष और विषाद भरे स्वर में उसने अनन्त के चित्र की ओर देखकर कहा, यह मेरी जगह होता, तो जानता कि स्त्री क्या चाहती है। एक कुमारी, जो अपने जीवन में निपट शून्य, इस यौवन का भार उठाये इन चाँदनी और सलोनी रातों में क्या चाहती है, इतना वह समझ पाता, तब तो! हाँ वह मेरे मानस की पीड़ा का अनुभव करता।

यह कहते ही एकादशी पलंग से खड़ी हो गयी। वह काँपने लगी। जैसे उससे बरवस ही कोई अशुभ कर्म होने जा रहा था अथवा हो गया था। इसी अवस्था में और उसी विषाद भरे मन को लिये हुये वह अनन्त के चित्र की ओर बढ़ी और ठीक उसके सामने जाकर खड़ी होती हुई, उसे घूम कर, मानो ग्लानि से देख कर, एकाएक बोली—वर्षों बीत गये···· जाने कितने सावन-भादों आये और निकल गये। पर तू एक दिन भी नहीं पिघला। एक दिन भी मेरी अवस्था को नहीं देख सका। मैंने गाँव की लोक-लाज छोड़ी। घर की प्रतिष्ठा का ध्यान नहीं किया। नित्य तेरे द्वार पर गयी। पर तू····रे, अनन्त! सदा अनन्त फनवाले साँप की तरह

फूफकार करता रहा। तू मुझे डराता रहा। धर्म और भावना का नारा लगाता रहा। तू इस एकादशीको एकबार भी सुगम नहीं बना। प्राप्त नहीं हुआ। तेरा छोर नहीं मिला। और जानता हूँ तू, मैंने तुझको रिझाने के लिये जाने कितने वस्त्र धारण किये। कितने अलंकार पहिने। पर हाय! रे पत्थर! निरा जड़! अचेतन! तू मेरे किसी भी प्रदर्शन पर न मुस्कराया, न कुछ कह पाया। तू पत्थर है, सच, पत्थर कहते ही, उसने अपने अन्तर में उठी उत्तेजना के साथ, उस चित्र को उठा लिया। उसे दाँत मींच कर पकड़ लिया और कमरे के फर्श पर पटक दिया।

इसके बाद ही एकादशी काँप उठी जैसे सिहर गयी। वह अनजाने में कोई पाप कर गयी। उस अशान्ति के आते ही वह मूर्छित सी बनी पलँग पर गिर गयी। वह जोर-जोर से साँस लेती हुई अपने आप कहने लगी, ओह! ओह! मुझे व्यर्थ ही पागल बना दिया""इस अनन्त ने, इस जड़ मानव ने···

एकादशी की आँखें गालों पर निकल आईं। वह फूट-फूट कर रो पड़ीं। उसी अवस्था में वह देर तक पड़ी रही।

यों वह रात बीत गयो। सबेरा आ गया। फूआ ने विवाह की तैयारी आरम्भ कर दी। जमींदार के घर विवाह है, इसलिये जमींदारी के सभी अच्छे और भले आदमियों को दावत में बुलाने के लिये सूची बनाई गयी। एकादशी के पास मोटर नहीं थी, कई हजार रुपये खर्च कर वह भी मँगा ली गयी। ड्राइवर भी रख लिया गया।

इस प्रकार अपनी मालकिन के विवाह पर और घर के नौकर-चाकर भी प्रसन्न और सुखी थे। वह अनुभव करते कि उनकी मालकिन भी पहिले से अधिक स्वस्थ तथा प्रसन्न है। वह अपने विवाह की प्रसन्नता में विभोर दिखायी देती है।

एकादशी के उन नौकरों में एक ऐसा भी था, जो उसका विश्वसनीय और सबसे पुराना था। वह 'दादा' के नाम से पुकारा जाता था। एकादशी को उसने गोद में खिलाया था। सभी नौकर जानते थे कि उसकी स्वामिनी किसी को भी फटकारेगी, नौकरी से भी हटा सकेगी, पर दादा को वह कुछ नहीं कहेगी। वह उसे जिस प्रकार मानती आई है उसी तरह मानती रहेगी।

इधर कई दिनों से ही दादा मौन और उदास दिखता था। वह कुछ दिनों से एकादशी के सामने भी नहीं आया था। वैसे वह एकान्त चाहता था। उससे मिलने के लिये आतुर था। परन्तु स्थिति यह थी कि एकादशी उन दिनों अकेली नहीं रह पाती थी। या तो सुनील उसके पास होता, या फूआ। किन्तु जब एक दिन उस दादा को अवसर मिला, तो वह एकादशी के पास जाकर बोला—बिटिया रानी, क्या तुम अपने इस दादा को बताओगी कि अनन्त भैया को क्यों मन्दिर और गाँव से निकाल दिया गया। सारा गाँव यह जानने को उत्सुक है! गाँव का-गाँव दुःखी है। जहाँ-तहाँ इसी की चर्चा है।

दादा की उस अप्रत्याशीत बात को सुन एकादशी स्तम्भित रह गयी। वह बरबस ही व्यथित होकर बोली—'अनन्त निकाला गया है, क्या कहते हो दादा! अनन्त मन्दिर और गाँव से निष्काषित किया है! कब गया? उसे किसने जाने को कहा?

दादा ने एकादशी के उस अधीर भाव को देख, शान्त हुए स्वर में कहा—बिटिया रानी, दरवान कहता था कि जिस दिन अनन्त तुमसे मिलने आया, तभी फूआ ने इससे कह दिया था कि वह तुमसे न मिले, इस घर पर न आये! और तभी उसके दूसरे दिन ही, फूआ ने अनन्त भैया को मन्दिर छोड़ने के लिये भी कहला दिया था। यह कहते हुए

दादा ने साँस भरी और बोला—'बिटिया, अन्नत तो देवता है। ऐसा आदमी क्या सहज में मिलता है? मन्दिर उसी से शोभता है। सुना है, जाने से पहिले वह अपना सभी कुछ गाँव के गरीबों को बाँट गया। अब जो भी सुनता है, वही कहता है कि यह अच्छा नहीं हुआ। अनन्त भैया के जिन बाप-दादों ने मन्दिर की प्रतिष्ठा रखी, उसमें पूजा की और दीपक जलाया, उसी अनन्त को निकाल कर बुद्धिमानी का काम नहीं किया......उस अनन्त को..........

'दादा!' एकादशी एकाएक चीख पड़ी—'फूआ ने यह क्यों किया? ऐसा करने में उसका क्या उद्देश्य है?'

दादा ने कहा—"बिटिया रानी, तुम्हारा यह दादा तो देर से देखता आया है कि इस घर में अनन्त भैया का आना ही शोभा पाता है। वह इस घर में बैठकर दिपता है। जैसे यहाँ कोई देवता आ जाता है। जब-जब अनन्त तुम्हारे पास होता, बैठ कर बात करता, तो सच, मुझे तो लगता, जैसे ब्रह्मा ने एक समय ही दोनों का निर्माण किया है। एक साथ रचा है। मैंने तुम दोनों में कोई भेद नहीं पाया। सदा यही लगा कि एक वस्तु है, जो दो जगह बँट गयी है।

उस समय एकादशी कहीं बाहर जाने की तैयारी कर रही थी। किन्तु दादा की बात सुनकर वह निरुत्साहित और क्षीण पड़ गयी। पलभर में खोई-खोई-सी बन एकाएक दादा से कुछ भी नहीं कह पायी। कुछ देर पूर्व जिस अनन्त के प्रति वह विरक्त और कुण्ठित बनी हुई थी, जिसे एक प्रकार से भूल गयी थी, उसी के प्रति दादा से इस प्रकार अपमानित बनाकर गाँव से निकाल देने की बात सुन, वह अपने मस्तिष्क का समूचा सन्तुलन खो बैठी। वह अपने आप लजा गयी। अपराधिनी बन गयी। उसका हृदय क्षोभ और करुणा से चीख उठा। वह उसे

प्रतारणा और लाँछना देने लगा। उस समय अपने बचाव के लिये एकादशी को कुछ भी न सूझ पड़ा। पहनने के लिये जो नयी साड़ी निकाली थी, उसे वहीं छोड़ वह तेजी के साथ फूआ के पास गयी और ऊँचे स्वर से बोली—फूआ, अनन्त को तुमने जाने के लिये कहा? वह तुम्हारे कहने पर गया? तुमने बुरा किया, फूआ! अच्छा नहीं किया। अब न जाने क्या कहता होगा वह अनन्त? जाने क्या सोचता होगा? काम तुमने किया और सब दोष मुझ पर डाल दिया। तुमने मुझे अपराधिनी बना दिया। इस गाँव के समक्ष मेरा सिर झुका दिया। मुझे मुँह दिखाने योग्य भी नहीं रहने दिया।

फूआ ने एकादशी की उस दशा को देख शान्त और खिन्न स्वर में कहा—'हाँ एकादशी! मैंने ही उस अनन्त से कहा, कोई सुने तो सुने; पर तेरी यह फूआ अपने स्वर्गीय भैया की और उसकी सन्तान को अप्रियता की बात नहीं सुनेगी! तूने सुना नहीं, गाँव भर कहता है कि जमींदार की पुत्री पूजा करने वाले अनन्त से प्रेम करती है। पर मैं तो जानती हूँ राजा और रंक का कैसा साथ? भला तुम अनन्त से कैसे प्रेम करोगी? छिः! लोगों की यह कैसी बचपन की बात है। ऐसे लोग यह नहीं जानते कि एकादशी अब बच्ची नहीं है। भला क्या अनन्त इसे सुनता नहीं होगा! वह तो मन्दिर में पड़ा-पड़ा तुम्हें बदनाम कर रहा था, स्वयं खुश हो रहा था। वह इस घर का नाश करने पर तुला था।

तदनन्तर ही फूआ ने पूछा—'यह तुमको किसने कहा? अनन्त आया था क्या? वह इस घर में आया था?

एकादशी ने खिन्न तथा क्षुब्ध स्वरमें कहा—'अनन्त नहीं आया था। वह नहीं आयेगा।'

तब किसने कहा ? किसी गाँव के आदमी ने ? या नौकर ने ? मैं जानना चाहता हूँ कि यह कौन है कि जो इस घर के प्रति शत्रुता रखता है ? ऐसी बात का प्रचार करता है ?

वहाँ से हटते हुए और खिझते हुए स्वर में एकादशी ने कहा—फूआ, मैं समझ नहीं पाती कि इस घर का कौन शत्रु है, कौन मित्र ! पर आज मुझे लगा है कि अपना कहने वाले ही मेरा नाश करने पर तुले हैं। यह कहते हुए वह सीधे अपने कमरे में चली गयी और धम्म से पलंग पर गिर कर फूट-फूट कर रो पड़ी। वह उस अवस्था में ही अपने आप बोली, भला अनन्त इस योग्य कहाँ ! वह इतना बड़ा अपमान नहीं सह सकेगा। वह मर जायेगा। इस जीवन से दूर हो जायेगा। वह कहीं भी चला जायेगा।

एकादशी की उस स्थिति में कदाचित् कहीं से अनन्त आ जाता, तो निश्चय ही वह अपनी भावनाओं से भरी उसे देखते ही पैर पकड़ लेती और कहती, अनन्त मुझे क्षमा करो। यह मेरा पाप था। यह मेरा दोष था।

उसने कहा—पर अनन्त उसे क्षमा नहीं करेगा। नहीं करेगा ! वह किसी पर क्रोध नहीं करता तो क्या, पर जब करता है, तो शान्त नहीं बनता। उसका क्रोध जल्दी ठण्डा नहीं होता। वह पक्का स्वाभिमानी है। यही तो उसकी सम्पदा है, इसे छोड़कर वह जीवित नहीं रहेगा। वह तब कहीं भी नहीं रहेगा।

एकादशी रो रही थी और रोती जा रही थी। तभी उसने एक नौकर को देखकर कहा—मँगतू किवाड़ बन्द कर दो। सुनील बाबू से कह दे, मैं नहीं जाऊँगी। आज कहीं भी न जा सकूँगी।

नौकर चला गया। उसके जाते ही एकादशी ने चादर ओढ़ ली और सो जाने का प्रयत्न किया।

किन्तु तभी सुनील उसके पास आया और बोला—एकादशी!

एकादशी ने कहा—हूँ!

सो रही हो। तुमने नहीं चल रहो हो, मैं कपड़े पहन आया!

तब भी एकादशी ने मुँह ढके हुए कह दिया—सिर में दर्द है। मैं सोऊँगी, मैं नहीं जाऊँगी।

उसी समय फूआ भी वहाँ आ गयी। बोली—क्या है एकादशी? सो रही हो?

सुनील ने कहा—'सिर में दर्द है।'

फूआ बोली—'अभी तो ठीक थी, अरे एकादशी! यह कहते हुए फूआ ने उसके मुँह पर से चादर हटाई। वह उसकी रोनी हुई आँखें देखते ही बोली—रो रही है तू किसलिये? उस अनन्त के लिये?

किन्तु तब भी एकादशी ने अपने मन की बात रोक कर कहा—फूआ सिर में दर्द है। तुम जाओ। किवाड़ बन्द कर दो।

तो रो क्यों रही है? क्या बात है?

यह सुन एकादशी ने फिर मुँह पर चादर डाल ली। साथ ही उसने दूसरी ओर करवट भी बदल ली।

यह देख फूआ ने सुनील को लक्ष्य किया और रहस्यपूर्ण ढंग से कहा—'ठीक तो है, तू क्यों इसे तंग करता है रे? जरा सी नींद आते ही सिर का दर्द चला जायेगा। आओ एकादशी को सोने दो।'

जब वे दोनों कमरे से निकल गये, तो फूआ ने सुनील को सुनाया—'अजीब बात है इस लड़की की! अभी कुछ देर पहिले क्या थी, अब क्या बन गयी!'

सुनील ने पूछा—'कुछ हो गया क्या ?

फूआ ने जल्दी से कहा—'अरे, होगा क्या ? कुछ नहीं हुआ है।

इतना सुनकर सुनील कुछ बोल तो नहीं सका, परन्तु इतना उसने सहज ही समझ लिया कि कोई बात जरूर है। शायद इस विवाह के विषय पर है। जब इस प्रकार का चोर उसके मन में आ गया, तो वह स्वयं गम्भीर बन गया। इतना उसे पहिले से पता था कि जिस बात को फूआ सरल समझती है, वह ऐसी नहीं। एकादशी को पाना सुगम नहीं। वह अनमना-सा बन कमरे में चला गया। उसका सभी कार्यक्रम चौपट हो गया, अन्यथा उस दिन वह मोटर द्वारा एकादशी को साथ ले शहर जानेवाला था। वहाँ जाकर वह सिनेमा देखता। कुछ सामान खरीदता। परन्तु जब कई दिन का बना हुआ प्रोग्राम बिगड़ गया, तो उसे लगा कि इस एकादशी को पाने का अर्थ यह होगा, आकाश के तारे तोड़ना...और वह क्या ऐसा कर सकेगा ? इतना समर्थ बनेगा ?

सुनील अपने मन की जिस गहराई में सो गया वहाँ निरे अन्धकार को छोड़ और कुछ नहीं था,—कुछ भी नहीं !

: ६ :

एकादशी को बुखार लगे कई दिन हो गये हैं। इस बीच में वह इतनी दुर्बल हो गयी कि जैसे महीनों की बीमार हो। फूआ की जान बड़ी मुसीबत में फँसी कि इधर एकादशी विस्तर पर और उधर वह दवा खाती नहीं। समझाने पर भी नहीं लेती। सुनील के कहने पर भी नहीं।

एक दिन फूआ और सुनील जब बीमार एकादशी के पास नहीं थे, वे अपने कमरे में थे, तब अवसर पाकर एकादशी का पुराना सेवक

दादा उसके पास आया। उसने पास बैठकर, अत्यन्त ममता भरे स्वर में कहा—'बिटिया रानी, ऐसे कब तक रहोगी ? तुम दवा नहीं खा रही हो। अपने को देखती नहीं, दिन-पर-दिन घुलती जा रही हो। आखिर क्यों ? क्या सोचा है तुमने ? अपने दादा को बताओ बिटिया !'

बात सुनकर एकादशी ने कमरे की छत की ओर देखा। उसी ओर देखते हुए उसके मन का ममत्व आँखों में आ गया। आँसू बरवस ही गालों पर निकल आये। जब दादा ने यह देखा, तो वह अपने कन्धे पर अंगोछे को उन आँसू भरी आँखों पर रखकर बोला—'बिटिया रानी, तुम्हारा यह बूढ़ा दादा समझता है, तुम्हारे मन की पीर को ! पर तुम कुछ कहती नहीं। अपने इस दादा को बताती नहीं। जानती तो हो, मैंने तुम्हें पाला है, गोद में खिलाया है !'

उस अवस्था में ही एकादशी ने क्षीण स्वर में कहा—'दादा, मैं मरना चाहती हूँ। तुमने जिन हाथों से इसे पाला, उन्हीं हाथों से इसे जला देना !'

दादा ने कहा—'तो इतना पापी है, यह तुम्हारा दादा ! ऐसा पत्थर ! न, बिटिया ! जीना तो तुम भी चाहती हो। जो कुछ औरों को चाहिये, वही हमारी रानी बिटिया को चाहिये।' यह कहते हुये उसने प्यार और ममता भरी भावना के साथ एकादशी के सिर पर हाथ रखा। उसके सिर के बालों को सहलाया, ऐसा करते हुए ही वह बोला—'मेरी बिटिया रानी क्या चाहती है, यह दादा समझता है। जिसे गोद में खिलाया, नन्हीं-मुन्नी से इतनी बड़ी देख पाया, उसी की बात को यह बूढ़ा कैसे न समझ पायेगा, बिटिया रानी ! जिस देवी के मठ में अनन्त नाम का पुजारी था, जब वह चला गया, तो मठ सूना हो गया। पुजारी के बगैर देवी कैसे प्रसन्न हो ? भला कैसे उस देवी का

श्रृंगार हो ? अतः कौन सुगन्धित और सुन्दर माला देवी को भेंट करे ? बिटिया रानी, मैं समझता हूँ कि तुम अनन्त भैया को याद करती हो। तुम अब तक जिस देवता की पूजा करती आई हो, अब उससे दूर हो गयी है। तुम दूसरों के कहने से उससे छूट गयी हो, मैं जानता हूँ कि तुम फिर उसी को पाना चाहती हो। तुम्हारा मन और आँखें उसी अनन्त की खोज में हैं। उसी के लिये आकुल हैं, बताओ, बिटिया रानी, यह झूठ है······यह······?

'दादा!' एकाएक जैसे तड़ित बनकर घायल हुए पंछी के समान एकादशी ने कहा—'मैं पागल हो गयी हूँ दादा।'

दादा ने कहा—'तुम बुलाओगी तो बीमारी की खबर पाते ही अनन्त जरूर आयेगा। दौड़ा आयेगा। मैं जानता हूँ, उसका दिल बड़ा कोमल है। मोम है।'

'अनन्त का अपमान हुआ है, दादा! अब वह नहीं आयेगा?'

दादा ने अपने स्वर पर जोर देकर कहा—'एक अपमान क्या, अनन्त भैया तुम्हारे लिये मौत भी स्वीकार कर लेगा। मेरा मन कहता है। तुम्हारी तरह उस अनन्त को भी मैंने समझा है।'

इतना सुन एकादशी ने कुछ नहीं कहा। उसने आँखें बन्द कर लीं और दादा की बातों में अपने को लगा दिया। दिखता था, उस समय उसने अलभ्य सुख का अनुभव किया। एकबार फिर उसने रूठे हुए और गाँव से गये हुए अनन्त की कल्पना में अपने को डुबो दिया। उसने अपना मुँह फेर लिया।

तभी दादा ने कहा—'चिन्ता न करो बिटिया, अनन्त सुबह आयेगा।'

इतना सुनते ही चौंक कर, हर्ष से विभोर बन उल्लासपूर्ण स्वर में एकादशी ने कहा—'मेरे दादा !'

दादा ने अपनी आँखों में अगाध ममता लिये हुए कहा—'मुझे पता है, तुम्हारा दिल बहुत कोमल और मुलायम है बिटिया रानी ! मैं जानता हूँ अनन्त भैया के बगैर तुम न रह सकोगी। जाने तुम किस बात पर उससे रूठ गयो। पर मैं जानता हूँ कि वह अनन्त तुम्हारा पुजारी है। भगवान के बाद वह तुम्हारी पूजा करता है। मानता है। वह तुम्हारा कल्याण चाहता है। और तुमने भी तो उसे कम प्यार नहीं किया। इस भरी दुनिया में उसी को अपना साथी पाया। जो वचन तुमने एकबार उसे दे दिया, अब भला उसे कैसे वापिस लोगी। प्राण और शरीर क्या अलग-अलग करोगी ? न, मेरी बिटिया ! ऐसा न करना ! ऐसे तो ये दो शरीर मर जायेंगे। इनके अरमान अपने-आप में ही घूँट कर रह जायेंगे।' यह कहते हुये दादा रुक गया। उसने साँस भरी और द्वार की ओर देखता हुआ, वह अपनी दाढ़ी के सफेद बालों में हाथ देकर बोला—'बिटिया रानी, उस अनन्त की पूजा को मत छीनो। उसे अपना काम करने दो। मैं जानता हूँ, उसके मन में कोई लालच नहीं है। उसके लिये जमींदार के महल हो तो क्या, गरीब की झोपड़ी हो तो क्या, सभी समान हैं। वह सभी के प्राणों में भगवान देखता है। सच बिटिया ! वह तो अपनी इस भरी जवानी में परमहंस है। परम सात्विक।' यह कहते हुये दादा ने फिर एकादशी को लक्ष्य किया और उसने फिर कहा—'दुनिया बदलती है, लोग बदलते हैं, पर अनन्त जैसा आदमी कभी नहीं बदलता। मुझे तो वह बचपन की तरह ही आज भी भोला और सुकुमार लगता है। भला क्या उसके पास छल है ? कपट है ? न, न, राम भजो ! वह तो अपने को ठगा देगा। दूसरे को नहीं।

देखा न तुमने, उसने अपने को एक दिन भी नहीं सजाया। इतना पढ़-लिखकर भी गरूर नहीं कर पाया। फिर भी वह सुन्दर है। दिपता है। देवता-तुल्य लगता है। सच बिटिया! वह सुनील बाबू नहीं है कि जो सुन्दर स्त्री और धन की चाह रखते हैं। यही तो फूआ की चाह है कि उसका निकट का सम्बन्धी यह सुनील बाबू तुम्हारा भी मालिक बने और तुम्हारे जायदाद का भी। तुमने इस रहस्य को आज तक नहीं समझ पाया, मेरी रानी बिटिया!

एकादशी ने एकाएक फिर उद्विग्न बन कर कहा—'तो मैं क्या करूँ दादा? मैं परेशान हूँ।'

दादा ने एकादशी की गरम हथेली पर अपना ठण्डा और काँपता हुआ हाथ रखा। वह बोला—यह तुम्हें अनन्त बतायेगा। तुम्हारी यह अवस्था देख कर मैं स्वयं ही कल उसके पास गया था। जब मैंने उससे यहाँ आने के लिये कहा, तो तैयार नहीं हुआ। मैंने यह भी कहा कि गाँव भर उसे याद करता है। उसे देखना चाहता है। पर इतना सुनकर भी वह सहमत नहीं हुआ। तब मैंने उससे कहा—अनन्त भैया, एकादशी बिटिया बीमार है। तुम गाँव से चले आये हो, तभीसे बिटिया की यह अवस्था है। कई दिन से बिस्तर पर पड़ी है। न दवा खाई है, न और कुछ खाया है।

एकाएक जैसे साँस रोकर एकादशी ने पूछा—तो फिर? तब भी तैयार नहीं हुआ, यहाँ आने को!

'न बिटिया!' दादा ने कहा—'तुम्हारी बीमारी की बात सुनते ही अनन्त व्याकुल बन गया। अपनी जगह से खड़ा हो गया। लगा कि जैसे किसी ने उसके दिल के फोड़े को छू दिया। वह दुखी हो गया। उसके माथे में बल पड़ गये। वह तब अपने सिर के बड़े-बड़े बालों में

हाथ देकर बोला—मैं चलूँगा दादा! तुम्हारी बिटिया के पास जरूर जाऊँगा। मेरा कुछ और अपमान हुआ तो उसे भी ज़हर के घूँट के समान पी लूँगा।

एकादशी ने अत्यन्त विह्वल बनकर कहा—तो अनन्त आयेगा? कल आयेगा?

दादा खड़ा हो गया। वह चल दिया।

दादा के कमरे से जाते ही ऐकादशी ने बरबस कहा, यह अनन्त नहीं समझा जायेगा। मुझसे क्या पकड़ा जायेगा? वह गूढ़ है, उड़ता पंछी है।

किन्तु जब दूसरा प्रातः आया तो नये दिन को आँख खोलकर देखते ही एकादशी ने पाया कि अनन्त उसके पास बैठा है। पास में दादा खड़ा है। इतना देख पाते ही एकादशी का मानस एकाएक द्रवीभूत हो गया। उसका ममत्व आँखों में उतर आया। वह मुँह से तो कुछ नहीं बोल पायी, पर आँखों ने अवश्य ही सभी कुछ कह दिया। एकादशी रो पड़ी, वह बच्चे के समान बिलखने लगी। यह देख अनन्त ने उसके सिर पर हाथ रखा और कहा—एकादशी मैं प्रस्तुत हूँ। तुम्हारी फूआ ने गाँव से और मन्दिर से चले जाने को कहा, तो मैं चला गया। भला मेरा जोर ही क्या था? पर कल ही सुना कि तुम बीमार हो। तो मैं आ गया!

इतना सुनते ही, एकादशी तड़प उठी। वह उठ बैठी। पलंग से नीचे होते ही, उसने अनन्त का पैर पकड़ लिये और उसी प्रकार पैरों में बैठती हुई बोली······अनन्त, तुम्हारा अपमान हुआ है। यही मेरी जड़ता है। मैं सुनकर भी प्रतिरोध नहीं कर सकी।

अनन्त ने एकादशी को पकड़ लिया और उसे ऊपर उठाकर पलंग पर बैठा दिया। वह कितनी व्याकुल और वेदना से भरी दिखाई दी।

यह देखते ही अनन्त गम्भीर बन गया। वह स्वयं अतिशय व्याकुल और दीन हो गया। उसी अवस्था में वह बोला—तुम कमजोर हो, शान्त बनो एकादशी !

एकादशी तकिये पर सिर रखकर पड़ गयी। उसने आँखें पोंछ लीं। उस समय उसकी साँस भी तीव्र बनकर चलने लगी, उसकी छाती के नीचे धड़कन भी बढ़ गयी।

दादा ने कहा—'इतने दिन में जाने क्या-से-क्या बन गयी है, बिटिया ! इसे भ्रम है कि जाने तुमने क्या सोचा ! यहाँ जाने पर क्या माना ! पर तुम्हारा और बिटिया का जो सम्बन्ध है, वह क्या टूट सकता है ! वह कच्चे धागे से नहीं बँधा है। और वह सम्बन्ध क्या नया है !'

अनन्त मुस्कराया—'न, दादा ! सम्बन्ध तो टूटता और बनता है। बात इतनी है कि मैं अपमानित होकर भी, इस एकादशी को नहीं भूल सकता ! हाँ, अपने इस सम्बन्ध को हल्का बनाकर भी नहीं देख सकता। मैं भरोसा नहीं करूँगा कि एकादशी मेरे लिये बदल जायेगी। हम परिस्थिति से समझौता कर सकते हैं, हृदय की भावना से नहीं।'

उसी समय एकादशी ने, दादा की ओर देखा और कहा—'कुछ जलपान लाने के लिये कहो, दादा ! जाने कब के चले हैं ! कहाँ से आये हैं। पैरों में भरी धूल तो बताती है कि कहीं दूर से आये हैं !'

दादा चला गया। उसके पीछे ही फूआ और सुनील जब एकादशी के पास आये, तो वहाँ अनन्त को बैठा देख दोनों ही चकित रह गये, वे द्वार पर ही ठिठक गये। उन्होंने न एकादशी से ही कुछ कहा, न अनन्त से ही। तब बाद में फूआ ने आगे बढ़कर एकादशी से पूछा—'कहो, तबियत का क्या हाल है एकादशी ?

एकादशी ने कह दिया—'अब ठीक है, फूआ !'

किन्तु इतना सुनकर भी फूआ को हर्ष नहीं हुआ। वह अपेक्षाकृत उपेक्षा और उदास मुख लिये वहाँ से लौट चली। उस समय वह सुनील को भी वहाँ से बुलाती ले गयी।

तभी अनन्त किंचित हँसा। उसने कहा—'तुम्हारी फूआ को मेरा आना अच्छा नहीं लगा। और क्या वह पढ़ा-लिखा सुनील भी जैसे ईर्ष्या भाव से भर गया। कुछ भी न बोल पाया। फूआ का इशारा पाते ही लौट गया। निरा मूर्ख कहीं का !'

एकादशी ने कहा—'यह जरूरी नहीं कि जो कुछ उन्हें न पसन्द आये, वह मुझे भी नहीं। तुम मेरे पास आये हो, उसके नहीं।'

बात सुनी तो अनन्त मौन बना रहा। वह एकादशी की बात के अन्तराल में पहुँच गया।

उस दिन एकादशी ने कुछ पथ्य लिया। उसने स्वस्थता का भी अनुभव किया। एक के बाद दूसरा दिन गया और अनन्त को उस घर पर आये एक सप्ताह हो गया। पिछली रात ही उसने एकादशी को सुना दिया कि वह कल प्रातः में चला जायेगा। इस बीच में यह उल्लेखनीय था कि अनन्त एक दिन भी न सुनील से बोल पाया, न फूआ से। उन दोनों ने भी उसे ऐसा अवसर नहीं दिया। जैसे उन्हें अनन्त से बात करना भी अभीष्ट न था।

अगला प्रातः होते ही एकादशी ने अनन्त के कमरे में जाकर देखा कि वह कमरे की खुली खिड़की की ओर मुँह किये एकाग्र और एक मन से नीले अम्बर की ओर देख रहा है। वह ध्यानावस्थित है। एक पुस्तक उसके सामने खुली रखी है, जिस पर लिखा है 'कर्मयोग'। उन बड़े-बड़े चार अक्षरों को पढ़ते ही, एकादशी ने अपने मन में कहा अब जाने यह

अनन्त किस कर्म का पाठ पढ़ने चला है। जाने इसका कितना विशाल कर्म है, जो अभी और बाकी है। यह कहते हुए और अनन्त को व्यस्त देख एकादशो लौट चलने वाली थी कि तभी अनन्त से उसने सुना—एकादशी, तुम आकर भी लौट रही हो। सुनो, आओ, बैठो।' यह कहते हुए उसने अपूर्व मधुर दृष्टि से एकादशो की ओर देखा।

अनन्त की बात सुनकर तो एकादशी ने स्वतः ही, अपनी उन प्रेरणा-मयी आँखोंको उसकी आँखों पर टिका दिया। साथ ही, उसने किंचित हँस भी दिया।

अनन्त ने कहा,—'इतने प्रातः उठ आई,—बहुत जल्दी !'

एकादशी वहीं फर्श पर बैठ गयी। बोली—'तुम जा रहे थे न ! भय था कि कहीं बिना मिले चले जाओ। सोचा, तुम मेरी प्रतीक्षा में होगे। मेरे कारण रुकोगे।'

'ओ, तो तुम इसलिये उठ आई हो !' कहते हुए अनन्त गम्भीर बन गया। वह एकादशो की हँसती हुई आँखों को देखने लगा।

इसके विपरीत एकादशी कुछ लजा गयी। वह खिड़की के बाहर देखने लगी। उसी समय उसके मन में आया कि यह अनन्त है जिसके समक्ष मैं लजाती हूँ, झुकती हूँ। पर सुनील के समक्ष ऐसा कभी नहीं हुआ। उसे मैंने बड़ा नहीं माना। भारी भी नहीं। अपने मन की उस बात को सुनते ही, एकादशी चौंक गयी। उसने अनन्त की ओर देखा। वह कह रहा था—'मैं शीघ्र लौट आऊँगा एकादशी, यह मेरा वचन है।'

किन्तु एकादशी मौन जैसे अज्ञात बनी रही। उसने अपनी भर आई आँखों पर उठे हुए पलकों को डाल दिया।

एकादशी के गोरे गालों पर बहते हुए आँसुओं को देखकर अनन्त

बोला—'एकादशी, तुम रोती हो ! जाने क्यों रोती हो, तुम।'

यह अनन्त जब-जब तुम्हारे पास आया है, तब-तब तुम्हारी इन बहते हुए आँसुओं में हृदय के दर्शन कर सका है। तुम्हें स्पष्ट देखा है। तब मैंने भी उन आँसुओं में अपने को पखारने का प्रयत्न किया है। जानती हो, मेरे मन में सदा यह बात रही है कि मैं ऐसे किसी कर्म का सम्पादन न कर बैठूँ जो तुम्हें अरुचिकर हो,—तुम्हारी इच्छा और आकांक्षा के प्रतिकूल हो। अपने समान मैंने सदा तुम्हारी प्रतिष्ठा का भी ध्यान रखा है। तुमने इस अनन्त को प्यार किया है, महान देखना पसन्द किया है, तो मैंने भी इस बात की चेष्टा की है कि एकादशी के अनुरूप मेरा जीवन हो। तुम जमींदार की बेटी हो तो क्या, मानव की दृष्टि में मेरा महत्व भी कम नहीं।'

बात सुनी तो एकादशी मुस्कराकर बोली—'अनन्त, मैं तुम्हारे समक्ष कुछ नहीं हूँ,—सच, कुछ भी नहीं।' यह कहते हुए उसने हाथ में लिया हुआ लिफाफा अनन्त के सामने रख दिया और कहा—'तुम्हें देखकर ही मैं गौरव अनुभव करती हूँ। मैं अनायास अपने में ऐसा दम्भ पाती हूँ कि मेरा भी महत्व है ! जब तुम मेरे पास आते हो, तो अपने को भाग्य-मयी मानती हूँ। अब तुम क्या करने चले हो उसका भी मुझे पता चल गया है। दादा ने कुछ बताया है।'

उस लिफाफे को लक्ष्य कर अनन्त बोला—'यह क्या ?

'मेरी वसीयत !' एकादशी ने कहा—'तुम जिस दरिद्रनारायण की सेवा में लगे हो, वहाँ यह जमींदारी भी लगा सकते हो।'

अनन्त मुस्कराया। वह क्षणभर उस स्नेहमयी एकादशी को प्रेम-भरी दृष्टि से देखता रहा। उसी अवस्था में बोला—'दरिद्रनारायण को

इस जमींदारी की नहीं, तुम्हारी आवश्यकता है। उसे तुम्हारा अनुराग चाहिये। तुम्हारा यह मनोरम और सुहावना जीवन चाहिये।'

एकादशी का मुँह आसमान की ओर उठा था। उसी ओर देखते हुए ही, उसने कहा—'अनन्त, तुम्हारा आदेश मिला तो मैं यह भी दे सकूँगी। मेरे पास ऐसी कोई वस्तु नहीं, जो तुम्हें न दे सकूँगी।' यह कहते हुए उसने तुरन्त ही अनन्त को ओर देखा और फिर कहा—मैं सोचती हूँ जमींदार की बेटी बनकर तो मैं तुम्हें पा नहीं सकी, तब क्यों न सभी कुछ त्याग कर, सभी को लुटाकर, तुम्हारे पास पहुँचूं। तब शायद तुम नहीं ठुकराओगे। मुझे देखकर नहीं झिझकोगे। तब तुम अपने हृदय के द्वार से मुझे वापिस न कर सकोगे!'

यह सुनकर, अनन्त हँसना चाह कर भी हँस न सका। वह पूर्ववत् गम्भीर बना हुआ बोला—'क्या जाने इस प्रकार तुम कब तक भ्रम में रहोगी! एकादशी, दिखता है तुम अपने मन की आँखों से एक दिन भी इस अनन्त को नहीं देख पाओगी। पर मैं पत्थर नहीं हूँ। मैं देवता भी नहीं हूँ। मैं मनुष्य हूँ। मुझमें भी टीस है। वेदना है, मानव की दुर्बलताएँ मेरे भी पास हैं। और तुम सभी ओर से छूटकर इसे बाँधने चली हो। तुम इस अनन्त के प्रवाह को सीमित करना चाहती हो। भला क्यों? इसलिये कि यह अनन्त तुमसे दूर हो जायेगा। तुम से छूट जायेगा। न, न, मैं कहता हूँ, यह सम्भव नहीं है। हाँ, नहीं है। मैं आज फिर तुम से याचना करता हूँ कि इस दुर्बल और निस्तेज अनन्त को तुम भी सहारा दो। शक्ति दो। इसने जो अवसर प्राप्त किया है, तो उससे काम लेने दो। आज गंगा इसके द्वार पर आ गयी है। यह जीवन का परम तत्व प्राप्त करने चला है। इस गंगा में इसे भी गोता मार लेने दो। और तुम जानती तो हो, यह जीवन आता और जाता है। यह तो

अल्पकालिक वस्तु है। मिटनेवाली है। एक दिन जब यह यौवन नहीं, इसका प्रमाद नहीं, तो हम-तुम भी नहीं।' यह कहते हुए अनन्त रुक गया। उसने देखा कि एकादशी का सिर झुका है। जैसे वह वेद-मन्त्रों का पाठ श्रवण कर रही है। यह देख अनन्त ने फिर कहना आरम्भ किया—'जीवन में अवसर बार-बार नहीं मिलते। ये जीवन भी अनेक बार संयोग से नहीं आते। यह विवाह, ये बच्चे, ये भोग की क्रियाएँ ही जीवन के नाम नहीं हैं। एक माँ असह्य वेदना सहकर जिस बच्चे को पालती है, तो वही बच्चा बड़ा होकर उस माँ का गला भी काट देता है। प्रकृति का खेल बड़ा विषम है। वह नित्य ही अट्टहास करती है। इसलिये मैं तुमसे कुछ और भी पाना चाहता हूँ। तुम देवी हो। महान् हो। यशस्वी हो। नारी ने जगत को बहुत कुछ दिया है। कुछ तुम भी मुझे दो। अब तुम्हीं अपने इस अनन्त को बल प्रदान करो, इस जगत में एक तुम्हीं हो, जो इसका साथ दे सकती हो। जो हा-हाकार और कोलाहलमय इस विश्व में भरा है, इस अनन्त को उसी में लीन हो जाने दो। इसे देखने दो कि समाज में जो धनिकों के जुठन से पलते आये, ये निरे कंकाल—माँ और बच्चे—निराधार और निराश्रित हुए विपत्ति की विडम्बना पर अभिशापित आखिर क्यों हैं? मैं जानता हूँ आदिकाल से शोभित और निर्मित ईश्वर क्या है? उसका अस्तित्व क्या है? जिस देवता की पूजा करते-करते यह मानव सहस्रों वर्ष पार कर गया, क्या कभी भी उस पिता का अस्तित्व इसे मिला? इन कंकालों ने कभी भी उसका आश्रय पाया?' यह कहते हुए अनन्त का मुँह लाल हो गया। उसी स्थिति में उसने फिर कहा—'एकादशी देवी, इस अनन्त के हृदय में आग है। इसमें टीस है। रोदन है। इस जीवन को पाकर मैं आज की तरह सदा चाहूँगा कि मानव में मानव की मूर्ति को खोजूँ और पाऊँ। मैं उसी की पीड़ा में एक दिन लय हो जाऊँ.........'

एकादशी ने अनन्त के चरणों में अपना सिर झुका दिया। अनन्त तत्काल खड़ा हो गया और बोला—'मैं शीघ्र ही आऊँगा।' यह कहते हुये उसने अपना झोला उठा लिया और मुस्करा कर एकादशी से विदा ले, बाहर की ओर चल दिया। वह चला गया।

: ७ :

अनन्त के जाने के बाद ही द्वार तक जाकर एकादशी फिर अपने कमरे में लौट आई। उसी समय दादा वहाँ आया। उस समय एकादशी कमरे की खिड़की पर खड़ी हुई देख रही थी कि अनन्त वह जा रहा है—वह जा रहा है। कुछ देर में वह उसकी दृष्टि से ओझल हो गया। तभी एकादशी ने साँस भरी और खिड़की छोड़ दी। जब उसने पीछे मुड़कर देखा, तो पाया कि उसका बूढ़ा नौकर दादा उसी की ओर देख रहा था। जैसे वह अपने दिवंगत मालिक की बेटी के मन को पढ़ लेना चाहता था। जब एकादशी ने अलसाये और खिन्न बने हुए भाव में उसकी ओर देखा तो दादा बोला—मुँह हाथ धो डालो बिटिया रानी! सूरज चढ़ गया। तुम्हारा नाश्ता तैयार हो गया।'

किन्तु एकादशी ने अपने मन की हिलोर में बहते हुये कहा—अनन्त तो गया दादा!

दादा ने कहा—हाँ, बिटिया रानी! वह गया। जब तुम सोकर भी नहीं उठी थी, तभी—मैं उसके पास गया था। रात में भी मैं अनन्त भैया के पास बैठा हुआ था। अहा! क्या-क्या कहता रहा, अनन्त भैया! सच, मुझे तो लगा कि उसके अन्दर से ही गंगा मैया ने बहना शुरू कर दिया। उसमें मैंने भी गोता लगा लिया। बिटिया

रानी, कहने को अनन्त भया मेरे बेटा-तुल्य हैं, पर वह तो कितने बूढ़ों और जवानों का ज्ञान अपने पेट में लिये फिरता है। सचमुच उसका जीवन महान् है। लगता है कि उसके मन से ही करुणा और दया की दरिया फूट निकली है। दूसरों के दुःख को वह अपना दुःख देखता है। जब तुम्हारी तारीफ करने लगता है, तो क्या रुकता है? वह कहता है मैं जो कुछ हूँ, वह सब एकादशी की देन है। उसी ने मुझे इस भावना की दरिया में डुबो दिया है। मेरा अस्तित्व एकादशी में लय हो चुका है।

एकाएक चंचल बनकर एकादशी बोली—हाँ, हाँ, वह यूँ ही मेरी तारीफ करता है। वह मुझे आसमान में चढ़ाता है।

दादा बोला—'न बिटिया! वह ठीक कहता है। मन से कहता है। और जानती हो तुम, वह जहाँ गया है, उसे जाना ही चाहिये था। वह निर्धनों और अपाहिजों की सेवा करने गया है बिटिया रानी!

एकादशी बोली—मुझे पता है।

उसी समय फूआ वहाँ आई और एकादशी को लक्ष्य करके बोली, सुन, एकादशी! मैं आज जा रही हूँ। यहाँ पर देर तक पड़ी रही, अब लौटना पसन्द करती हूँ।

एकादशी ने बिना बिचलित हुये कहा—ऐसा क्यों फूआ? अभी और रहो। मुझे यों अकेली न छोड़ो।

फूआ बोली—मुझे आये भी देर हुई। अपना भी घर देखना है। मैं देखती हूँ कि तू अभी विवाह नहीं करेगी। शायद ऐसा पसन्द नहीं कर सकेगी।

इतना सुनकर एकादशी ने सूखे दाँतों से हँस दिया। उसने कहा—फूआ विवाह ही सब कुछ नहीं है, जीवन के लिये यही मुख्य नहीं। तुम इसकी चिन्ता न करो। जब होगा, हो जायेगा।'

फूआ ने साँस भर कर कहा—तू जान! मेरा जो काम था, वह मैंने कर दिया।

उसी समय सुनील भी वहाँ आ गया। उसकी ओर देखकर एकादशी बोली—सुना आपने, फूआ जा रही है। पर आप तो रहेंगे न? जरूर! आप नहीं जा पायेंगे।

सुनील ने कहा—'नहीं एकादशी! मुझे भी जाना है। काम है। माँ ने बुलाया है।'

'नहीं, नहीं, ऐसा भी क्या सुनील बाबू! इतना कह एकादशी तत्काल दूसरी ओर चल पड़ी। कुछ ही देर बाद जब वह लौटकर आई तो सुनील के पास बैठ गयी।

सुनील ने फिर वही जाने की बात उठाई। वह बोला—अब मेरा लौट जाना ही श्रेयकर है। हम दोनों के लिये शुभ है।

एकादशी बोली—'शुभ अशुभ की बात मैं नहीं जानती। पर कहती हूँ, फूआ जाती है तो आपका जाना भी क्या ठीक है? बोलिये, यह उचित है? वैसे यह भरोसा रखिये, मैं किसी बात की समस्या का रूप भी देना पसन्द नहीं करती। मन में कोई गाँठ बाँधना भी नहीं चाहती।

सुनील ने इतनी बात सुनी, तो चाहा कि कहें कि वह स्वयं समस्या है, उसकी प्रत्येक बात समस्या है। पर उसने इतना नहीं कहा। उसने कुछ भी कहना पसन्द नहीं किया।

किन्तु एकादशी ने फिर कहा—सुनील बाबू, दादा कहता था कि अनन्त निर्धनों और अपाहिजों की सेवा करने गया है। आपने तो देखा न कि कैसा है वह अनन्त! कहिये कभी उससे वार्तालाप हुआ? आप

मिले और बोले ? वैसे अनन्त स्वयं कम बोलता है। अपनी ओर से वह क्या कुछ कहता है।

खिन्न स्वर में सुनील ने कहा—'मैं उससे नहीं बोला। ऐसी आवश्यकता भी नहीं समझा !'

चकित होकर एकादशी बोली—'बोले नहीं ! अनन्त से मिले भी नहीं ! सुनील जी, वह अनन्त अपने अन्दर दम्भ नहीं रखता। मैं जानती हूँ कि वह सेवा करना ही अपना लक्ष्य मानता है। यह तो आपने भी देखा कि इस बीच में वह रात-दिन मेरे लिये लगा रहा। वह निर्लोभ है। निरा स्वार्थहीन। पर एक हमलोग हैं कि जो रात-दिन वैभव और सुख की कल्पना किया करते हैं। हम निरन्तर के संघर्ष और असन्तोष की व्यथा से पीड़ा पाते हैं। लेकिन अनन्त इन सबसे परे है। वह ऊँचाई की ओर देखता है····जीवन के परम लक्ष्य की ओर !'

इतनी देर में सुनील के मन में कई बार आया कि वह एकादशी के पास से चल दे। अथवा उससे कह दे कि वह जिस अनन्त की प्रशंसा करने लगी है, उससे वह कोई रुचि नहीं रखता। किन्तु सुनील द्वारा इतना कहने और सुनने से पूर्व एकादशी स्वतः ही दूसरी ओर चल पड़ी। जब वह चली तो मुस्कराई। किंचित हँसी। वह जाती हुई कहती गयी,—'उस अनन्त को समझना आसान नहीं है, सुनील बाबू !'

किन्तु सुनील के मन में तो आया कि एकादशी की पीठ पर ही कह दे—एकादशी, तुझे समझना भी सुगम नहीं है। परन्तु वह मौन बना रहा। जाती हुई एकादशी की ओर देखने लगा। उसी अवस्था में वह अपने मन में सोचा—यह एकादशी अनन्त की पूजा करती है। उसे अपने जीवन में उतार चुकी है। यों सहज में क्या उसे भूल सकती है ! कदापि नहीं !

उसी समय फूआ फिर उधर आ निकली—सुनील के मन में जो बात उठी, तो उसने वही बात फूआसे कह दी। सुनकर फूआ बोली —'एकादशी उस अनन्त से विवाह करना भी पसन्द करेगी, यह मैं नहीं मानती।'

इतना सुन सुनील ने अपने हाथ की सिगरेट जमीन पर डाल दी और वह पैर के जूते से मसल दी। तभी उसने फूआ की ओर देखकर कहा—'पर मैं क्यों बधूँ! क्यों इस उलझन में पड़ूँ।'

फूआ ने घूमकर सुनील को देखा। उसे एकबार फिर समझना चाहा। उसी अवस्था में उसने कहा—'सुनील, मैं जानती हूँ, तुम भी जीवन में रुपया चाहते हो, और सुन्दर सुदक्ष पत्नी पाना पसन्द करते हो। भला यह सब कहाँ पाओगे? मैं कहती हूँ कि तुम यहाँ पा सकोगे?'

किन्तु सुनील मुँह विचकाकर कहा—'यह झगड़े का सौदा है। मुझे नहीं चाहिये।'

फूआ ने यहाँ से जाते हुये कहा—'पगले मत बनो। जब एकादशी ने कहा है, तो तुम यहाँ रहो। जब अच्छी बहू चाहते हो, तो प्रयत्न करो। धीरज से काम लो।'

सुनील तब बोल नहीं पाया। वह फिर जाती हुई फूआ को रोक कर कुछ कह नहीं सका।

दोपहर होते-होते फूआ चली गयी। जब संन्ध्या आई, तो एकादशी घूमने के लिये तैयार हुई और सुनील के पास जाकर बोली—'आइये, नदी पर घूम आयें।'

उस समय सुनील निरुद्देश्य बैठा था। सोकर उठा था। एकादशी की बात सुना, तो उठ खड़ा हुआ। वह कपड़े पहनने लगा।

जब दोनों चले, तो नदी की ओर जाते हुये मन्दिर के पास जाकर एकादशी ने सुनील से पूछा—'आप आदमी की पूजा पसन्द करते हैं,

क्यों ? पत्थर को आप नहीं पूजते ?'

सुनील ने उस आकस्मिक बात पर टिकते हुये कहा—मैं पूजा नाम के शब्द पर भी विश्वास नहीं करता। मुझे यह नहीं शोभता। यह ढोंग है। आडम्बर है।

यह सुनकर एकादशी ने कुछ नहीं कहा। दोनों आगे बढ़ गये और नदी पर पहुँच गये। नदी के पानी की तेज धारा को देखते ही एकादशी ने फिर कहा—'मैं समझती हूँ पत्थरों में मानव की पूजा करके ही इन्सान उसका अर्थ समझता है। वह श्रद्धा के प्रथम चरण के प्रति अपनी अवस्था प्रकट करता है। जिसका सीधा सा अर्थ ही यह है कि इन्सान, इन्सान की पूजा करे! उसी में भगवान और भावना को पायें। पर आप भी नहीं मानते। आप तो पूजा नाम को ही स्वीकार नही करते,—खूब!

सुनील ने कहा—इस पूजा की परिपाटी ने हमें एक दिन भी इन्सान को नहीं समझने दिया और यह पत्थर तो हमारे रास्ते में पहाड़ बनकर खड़ा हो गया। इसी के द्वारा इन्सान को ठगा गया······ उसका बध किया गया····मैं इन्सान के इस प्रयोग से कभी भी सहमत नहीं हुआ।

एकादशी मुस्करा उठी। नदी की ओर देखकर किंचित हँस भी दी। उसी अवस्था में वह बोली—'आदमी भी पत्थर है··········सख्त है! आप इस नदी की लहरों को देखते हैं कि कितनी सुन्दर और मोहक हैं। पर मौत इन लहरों में छिपी है। वह किलकिला रही है।'

सुनील ने उपेक्षा भाव से कह दिया—'इतना मानता हूँ। समझता हूँ। अब तो मैं तुम्हें देखकर भी बहुत कुछ सीख गया हूँ।'

एकादशी बात सुनते ही ठहाका मारकर हँस पड़ी। वह इतनी

हँसी कि पेट पकड़ कर झुक गयी। उसकी आँखों में भी पानी आ गया। उसी प्रकार हँसते हुये उसने कहा—'वाह ! वाह ! मुझे देखकर भी ?'

सुनील बोला—हाँ, एकादशी ! इतने दिन से मैं अनुभव कर रहा हूँ कि तुम भी कठोर हो"'सच, पत्थर हो ! और यह भी मैं अब समझता हूँ कि नारी को समझना भी आसान नहीं है। नारी जहाँ प्रेरणा और अनुभूति की साक्षात् प्रतिमा है, वहाँ इन्सान के लिये एक बड़ा धोखा और छल भी है।'

एकादशी ने बरबस गम्भीर बनकर कहा—धन्यवाद, आपको ! मैं इस आरोप को सिर माथे लेती हूँ। इतना ज्ञान पाकर अभारी हूँ।

किन्तु उसी समय सुनील का माथा ठनका। उसे लगा कि वह अनायास ही भारी बात कह गया है। उसने एकादशी पर बड़ा आरोप रख दिया है। इसलिये उसने अपनी वाणी का स्वर बदला और कहा—'हाँ, एकादशी, मैं तुम्हें नहीं समझ पाया। तुम्हारी मूर्खता की मैं पूरी कल्पना भी नहीं कर सका। जब तुम हँसती हो, तो लगता है कि फूल झड़ते हैं। अमृत की वर्षा होती है। उस समय मुझे जीवन मिलता है। पर जब तुम गम्भीर बनती हो, किसी समस्या में उलझती हो, तो लगता है कि देवी के मठ से अब अमृत के स्थान पर विष भरा घट बहा दिया जाने वाला है। मैं अपनी दुर्बलता बताऊँ, तब मुझे डर लगता है। अपने पर सन्देह होता है कि कहीं मैंने तुम्हारे दिल को आघात तो नहीं पहुँचा दिया""किसी अशुभ बात से तुम्हें चौंका तो नहीं दिया।'

एकादशीने कहा—'नहीं, नहीं सुनीलबाबू ! आप कुछ भी कहें। आप मेहमान हैं। मैं स्वयं अपनी दुर्बलता पहचानती हूँ। मैं सहज ही मान

लेती हूँ कि मैं पत्थर हूँ...... निरी जड़ हूँ। यह तो आप जानते ही हैं कि पत्थर नहीं जानता कि वह पत्थर है, कठोर है!

वे दोनों नदी के किनारे-किनारे चल, फिर गाँव की ओर मुड़ चले। सूरज डूबने से पूर्व घर आ गये।

जब रात में दोनों भोजन करने बैठे, तो एकादशी ने हँसते हुए कहा—'तो सुनील बाबू, आखिर आज आपने निर्णय दे दिया कि मैं पत्थर हूँ,—कठोर हूँ।'

एकाएक सुनील कुछ नहीं बोल सका। वह खाने में लगा रहा, पर उसने यह स्पष्ट अनुभव किया कि एकादशी के मन में उसकी बात चुभ गयी। भली नहीं लगी। वह अपने आप बोला, नारी भी प्रशंसा चाहती है...अपने रूप का बखान सुनना पसन्द करती है। वैसी ही, यह एकादशी!

तभी, एकादशी ने फिर प्रश्न किया—'बतायेंगे, ऐसा निर्णय आपने किस आधार पर दिया? मेरा क्या दोष पाया?'

तब भी, सुनील के मुँहसे निकल पड़ा—'मैं तुम्हें समझ नहीं पाया,—सच, अभी तक नहीं!'

हँसकर एकादशी बोली—'यह स्वाभाविक है। आपका भ्रम भी हो सकता है ऐसा मैं सोचती हूँ। ऐसा मुझमें कुछ नहीं। कहीं छिपाव नहीं। मैं जो कुछ हूँ आपके सामने हूँ। ठोस नहीं हूँ। भारी भी नहीं हूँ। और देखिये, अब तक आपकी खातिरदारी का भार फूआ पर था, पर अब मुझ पर है। कोई त्रुटि हो, तो क्षमा भी कीजियेगा। यह एकादशी पत्थर तो है ही, अनाड़ी और मूर्ख भी है!'

उसी समय सुनील ने एकादशी की ओर देखा। वह बोला—तो एकादशी, यों व्यंग करने पर तुली हो! यों अपमानित न करो। मेरी

बात न रुचे तो मुझे क्षमा कर दो।' यह कहते हुए वह भोजन से उठ खड़ा हुआ। एकादशी भी खड़ी हो गयी। वह तब दूसरी ओर चली गयी जब वह अपने कमरे में जाकर बैठी, तो उस समय दादा को सामने आया हुआ पाकर बोली—'अनन्त भी गया, फूआ भी गयी। घर सूना हो गया।'

दादा ने कहा—'हाँ, बिटिया रानी। यह घर भी आदमी से बोलता है। आदमी न हो,तो यह ईंट पत्थर का मकान भी भूत का डेरा लगता है। यह कहते ही, उसने प्रश्न किया—'तुम आजकल खर्चे का हिसाब भी देखती हो, बिटिया रानी?'

एकादशी ने कहा—'नहीं तो! देख लूँगी। क्यों?'

दादा ने कहा—'आज मुन्शी कहता था कि इस बीच में कई हजार रुपया खर्च हो गया है। वह सब फूआ के हाथों से खर्च हुआ। पर घर में तो ऐसा कुछ आया नहीं। फिर इतना खर्च क्यों, बिटिया!'

बात टालने के अभिप्राय से एकादशी ने कहा—'फूआ ने कुछ मँगाया होगा।'

किन्तु दादा फिर बोला—'पर तुन्हें भी तो पता चलना था। ऐसे तो एकदिन सभी कुछ चला जायगा।'

इतना सुनते ही एकादशी बोली—'जो जायगा, वह जायगा, दादा! वह क्या मेरे रोके रुकेगा! मुझे सभी कुछ पता है। ऐसा न सोचो कि मैं कुछ नहीं जानती। बस, मैं कहती नहीं। जो फूआ मेरे पिताजी की बहिन बनकर मेरी सबसे बड़ी शुभेच्छु कहलाती हैं, वे कुछ करें, तो उसे रोकना मुझे अच्छा नहीं लगा। मैंने कुछ सोचा, तो कुछ पाया। फूआ की वास्तविकता को समझ लिया।'

दादा ने कहा—'यह परम्परा गलत है। ऐसे कब तक चल सकता है ?'

एकादशी ने बाहर खिड़की की ओर अन्धेरे में देखते हुए कहा—'जब तक चले ! मुझे भी क्या देर तक रहना है ! यह सभी कुछ छोड़ जाना है।'

दादा ने इतना सुना, तो वह विस्मय के साथ उस यौवनमयी एकादशी की ओर देखने लगा। वह रोषपूर्ण होकर बोला—'यह क्या कहती हो, बिटिया ! तुम्हें अभी रहना है। दुनिया देखनी है। व्याह करना है। माँ बनना है ! एक सलोने बच्चे को गोद खेलाना है।'

इतना सुनना था कि एकादशी ने आतुर भाव में दादा की ओर देखा। उसने तुरन्त ही कहा—'हाँ, हाँ, मुझे सभी-कुछ बनना है ! पत्नी, माँ, दादा···अरे, वाह, दादा ! तुम्हें भी क्या सूझा है ! दादा, जिस बात को मैं स्वयं नहीं समझ पाती, उसे तुम्हें भी नहीं बता सकती। चाहती हूँ, ऐसे ही जिन्दगी बिता दूँ। चुपचाप रास्ता पारकर लूँ।'

दादा वहाँ से जाता हुआ बोला—'ऐसी बात तो मैंने न कभी देखी, न सुनी, बिटिया रानी ! कोई अपना घर नहीं लुटाता। पैसे से बैर नहीं करता।'

तब एकादशी ने चाहा कि वह जाते हुए दादा को रोक ले और उससे कुछ और कहे, पर उसने ऐसा नहीं किया। दादा चला गया। सचाई यह थी कि उस क्षण स्वतः ही एकादशी का मानस आकुल और अधीर बन गया। लगा कि जैसे उस मानस के चारों ओर कोहरा छा गया, जिसमें कुछ भी नहीं दिखायी दिया,—कुछ भी नहीं।

: ८ :

अनन्त के गाँव से जाने और सुनील के वहाँ आने के बाद से ही, एकादशी का मन्दिर में जाना छूट गया था। एक दिन जब अनायास उसमें देवता का दर्शन करने की अभिलाषा जाग्रत हुई तब वह पूजा का सामान लेकर मन्दिर पहुँच गयी। उस समय सुनील भी साथ था। इतने समय में वह एकादशी के अधिक निकट हो गया था। फलस्वरूप उन दोनों की बढ़ती हुई सम्पर्कता को देख, घर के नौकर आपस में बात करते और कहते, सुनील बाबू चतुर है। वह सहज ही एकादशी का विश्वासपात्र बन गया। किन्तु जब इस विषय में वे नौकर दादा से कुछ कहना चाहते और अपनी बात का उत्तर माँगते, तो वह उदासीन भाव से उस बात को टाल जाता। अपनी ओर से कुछ भी न कहता।

और सचाई यह थी कि वह वृद्ध दादा उस अवस्था को देख, स्वतः ही एकादशी की ओर से उदासीन बन चला था। उसने उस बात को समझ लिया था कि अन्ततः वह इस घर का सेवक है। एकादशी मालकिन है। यह आवश्यक नहीं कि वह सदा उसकी बातें सुनती रहे और मानती रहे। इसलिये उसने इच्छा करके भी, एकादशी से यह नहीं कहा कि सुनील की ओर वह आये दिन खिंचती जा रही है, वह अच्छा आदमी नहीं। अनन्त की तुलना में कुछ नहीं।

लेकिन उस दिन जब एकादशी मन्दिर में गयी और वहाँ उसने अनन्त के रहने की कोठरी और पढ़ने के लिये बैठने की झोपड़ी शून्य देखी, तो अनायास वह फिर अनन्त की याद में डूब गयी। उसे अनन्त

का अभाव बहुत खटका मानो अनन्त के अभाव में मन्दिर की शोभा और प्रतिष्ठा भी कम मालूम पड़ने लगी। उसने मन्दिर के देवता के चरणों में फूल चढ़ा दिये। दीपक जलाकर रख दी। पुजारी से प्रसाद ले लिया। इतना कर जब एकादशी मनोभाव से प्रतिमा के समक्ष खड़ी हो गयी, तो वह जैसे अपने आप को दोषी समझने लगी। उसे लगा कि वह अभियुक्त है। अनन्त के जाने का कारण वही है। उस समय सुनील द्वार पर खड़ा था। वह अल्हड़ भाव से दूर खड़ा हुआ प्रतिमा की बनावट और उसका रूप-श्रृङ्गार देख रहा था। जैसे उसे वह सब कोई कौतुक से पूर्ण व्यापार लग रहा था।

उसी समय दादा शीघ्रता से आकर मन्दिर में गया और वह देवता के समक्ष मौन बनी एकादशी को लक्ष्य करके बोला—'बिटियारानी, घर चलो। अनन्त भैया आया है। उसने तुम्हें अभी बुलाया है।'

जैसे आसमान से गिरकर एकादशी उल्लासपूर्ण बन कर बोली—'अनन्त आया है,—सच !'

'हां, बिटिया ! वह अजीब आदमी है। आते देर नहीं हुई कि लौट जाने की बात पहिले ले आया है।'

एकादशी लौट पड़ी। सुनील भी साथ चल दिया। दादा ने एकादशी से क्या कहा, यह उसने सुन लिया। उसने सहज ही देखा कि उस अनन्त के आने की बात पर एकादशी तो प्रसन्न बनी रही, वह बूढ़ा नौकर भी जैसे कोई बड़ी वस्तु पा गया। फलस्वरूप सुनील को यह सब अच्छा नहीं लगा। उसका वश चलता तो वह दादा को फटकार देता। एकादशी को भी झिड़क देता।

घर पहुँच कर एकादशी ने देखा कि अनन्त ड्योढ़ी में ही मुन्शी के पास बैठा बातें कर रहा है। एकादशी को देख पाते ही वह खड़ा

हो गया। तभी वह आतुर बनकर बोला, 'मैं आ नहीं सका। कष्ट अधिक था। आज भी कठिनाई से आया। कार्यवश ही आना पड़ा।'

एकादशी बोली—'आओ, ऊपर चलो।' कहते हुये उसने अनन्त को साथ ले लिया। तभी उसने अनुभव किया कि अनन्त जैसे बीमार रहा है। अत्यन्त दुर्बल हो गया है। शरीर का रंग भी काला पड़ गया है। आँखें माथे में धँस गयी हैं। गाल पिचक गये हैं। यह देख एकादशी के मन में कोलाहल पैदा हो गया। उसे यह अच्छा नहीं लगा। उसने सुगमता से अनुभव किया कि यह अनन्त दु:खी है। निरन्तर के संघर्ष ने इसे पराजित कर दिया है। मन में इतना आते ही जब वह कमरे में पहुँच गयी, तो ठीक अनन्त की ओर देखकर बोली—'यह क्या हाल बना लिया है ? क्या बीमार रहे ? दिखता है महीनों से स्नान भी नहीं किया ? यह सब कैसे हुआ ? क्या बुखार आ गया था ? इतना तो समझती हूँ कि बाहर जाकर तुमने मेरा ध्यान कभी नहीं किया होगा। आज भी जाने कैसे इस गाँव का रास्ता पकड़ लिया !'

उस समय सुनील अपने कमरे में था। दादा भी वहाँ नहीं था। जब अनन्त ने एकादशी की उलाहने से भरी बात सुनी, तो वह बोला—'नहीं एकादशी ! तुम भ्रम में हो। मैं तुम्हें सदा याद करता रहा। मृतकों को कन्धे पर उठाते और फूंकते समय भी, तुम्हारी याद अपने पास रखता था। अपाहिजों और पराश्रितों के लिये भिक्षा मांगते समय भी तुम्हारी स्मृति नहीं भुलाता था। बीमारों की सेवा करते समय भी तुम्हें अपने सामने खड़ी पाता था।'

उसी समय अनन्त ने फिर कहा—'यहाँ से कोई दस कोस पर एक गाँव है, जहाँ बीमारी और अकाल पड़ा है। गाँव वाले नित्य ही भूख और बीमारी से मरते हैं। इसी हेतु मैं आज तुम्हारे पास भी आया हूँ।

अब तक सभी जगह मांग आया। जिसने जो कुछ दिया, वह ले आया। पर वहाँ तो एक आदमी नहीं, पूरा गाँव ही विपत्ति में आ गया है।'

एकादशी ने कहा—'तुम स्नान और भोजन करो। दूर से चलकर आये हो, थके हो। आराम करो।'

किन्तु अनन्त बोला—'नहीं एकादशी! मुझे अभी लौट जाना है। मैं भिक्षा के हेतु आया हूँ। मेरे पीछे ही कई बीमार मर चुके होंगे। उनके कफन का सहारा नहीं। जो जीवित हैं, उनके लिये अन्न नहीं। दवा की सुविधा नहीं।"

'तो अभी लौट जाओगे? इतनी जल्दी!'

अनन्त ने फिर भी बाहर की ओर देखते हुये कहा—'हाँ, एकादशी! मुझे सेवा करने का अभूतपूर्व अवसर मिला है। यही मेरी दिल की अभिलाषा थी। उद्देश्य ही यह था, मेरा! यह कहते हुये उसने एकादशी की ओर देखा। उसी अवस्था में वह बोला—'इस संसार में कैसी व्यथाएँ हैं, पीड़ाएँ हैं, उन्हें मैंने अभी समझा है। अभी अपनी आँखोंसे देखा है। तुम भरोसा नहीं करोगी कि मानव कराह रहा है..........पीड़ा से सिसक रहा है! यह भगवान और भावना का उपासक इन्सान, दूसरे इन्सान की मृत्यु देख रहा है। उसकी पीड़ा को सुन मुँह फेर रहा है! मैं कई बीमारों को मृत्यु से लड़ता हुआ, कई माताओं के बच्चों को भूख से तड़पता हुआ छोड़ आया हूँ। मैं उन्हीं के लिये तुमसे भीख मांगने आया हूँ।'

एकादशी उस समय मौन थी। गम्भीर बनी थी। बीच-बीच में वह जब अनन्त को ओर देखती, सहज ही अनुभव करती कि अनन्त दुर्बल और निस्तेज तो है, पर इसकी आत्मा जैसे पहले से अधिक तेजोमयी बन गयी है। अनन्त ठोस हो गया है। पर-पीड़ा और पर-दुःख से ही यह भरा है। उसी पीड़ा से स्वयं भी कराह उठा है।

तभी अनन्त फिर बोला—'एकादशी, अपने अवलम्ब पर सभी भरोसा करते हैं। इस जगत के इन्सान भगवान को ही अपना सहायक मानते हैं। पर दिखता है, पीड़ितों से वह भी दूर रहता है। दीन-बन्धु उन दीनों की ओर से भी मुँह मोड़ लेता है। तुम जो कुछ दोगो, मैं उसीसे लोगों को सहारा दूँगा। अपना परिश्रम सफल मानूँगा। उन बुभुक्षितों की तरह यह अनन्त भी तुम्हारा आभार मानेगा।'

एकाएक एकादशी ने कहा—'आह! बहुत बोलते हो! इतना सब कहते हो! तुम अब भी मुझे गैर समझते हो। मेरे पास जो कुछ है, उसे अपना क्यों नहीं समझते। मुझे आदेश क्यों नहीं देते। देखती हूँ, अब तुम कुछ और सीख आये हो।'

उसी समय सुनील वहाँ आया और अनन्त की ओर दस रुपये का नोट बढ़ा कर बोला—'अनन्तजी, यह स्वीकार कीजिये, एकादशी देवी की ओर से भेंट!

अनन्त ने चकित बनकर, उस दस रुपये के नोट को और सुनील को देखा। किन्तु उसने उससे कुछ कह नहीं सका। उसने एकादशी से कहा—'इतना भर पाने के लिये तो मैं यहाँ नहीं आया हूँ। फिर वह सुनील की ओर देखकर बोला—'आपकी उदारताके लिये धन्यवाद! यह रखिये। काम आयेगा। आपकी सिगरेट का काम चलेगा।'

सुनील ने कहा—'अनन्तजी, आप एक घर पर ही भरोसा क्यों रखते हैं? जब भीख माँगने चले हैं, तो अन्यत्र भी जाइये।'

अनन्त ने सगर्व भाव से मुस्करा दिया—'हाँ, हाँ, मैं अन्यत्र भी जाऊँगा। मैं व्यक्ति-व्यक्ति से मागूँगा। मैं सभी से कहूँगा, मानव की पुकार सुनो.......मानव की कराह सुनो.......।'

एकाएक कांपते हुये स्वर में एकादशी बोली—'अनन्त, तुम शान्त बनो! जाओ, स्नान करो।'

किन्तु अनन्त ने जैसे एकादशी की बात नहीं सुनी। वह अपने मन में उठी हुई बात को लेकर बोला—'मैं जाने कहाँ-कहाँ घूम आया हूँ। जो किसान अपने खून को सुखा करके इस जगत को जीवन प्रदान करता है, अब वही परेशान बनता है, मौत के मुँह में जाता है, और कोई उसकी ओर नहीं देख पाता। उसके आँसू नहीं पोछ सकता।' उसने सुनील की ओर देखकर कहा—'महाशय, यह दस रुपये का नोट आपका नहीं है, किसान का है। आपने तो छल और दम्भ से पा लिया है। देखते हैं न आप, कुछ प्रान्तों में जमींदारी समाप्त हो गयी है। आपका भी नम्बर आने वाला है। आपको भी साधारण किसान बनना है।'

तभी आतुर बनकर एकादशी बोली—'अनन्त, तुम शान्त बनो। धीरज रखो।'

अनन्त बोला—'आज किसान के प्रति कोई सहानुभूति नहीं रखता। भला इस अहमन्यता की कोई सीमा है! मैं कई रईसों और जमींदारों के पास से लौट आया हूँ। और यह सभी जानते हैं कि किसान के खून और माँस से ये महल निर्मित हुए हैं। यह है मानव का दम्भ......उसकी क्रूरता! अन्ततः यह आदमी बर्बर है......डाकू है........खूनी है......।'

एकादशी ने फिर अपने स्वर पर जोर दिया—'अनन्त, तुम शान्त क्यों नहीं रहते? मेरी बात नहीं सुनते। इस घर की मैं मालकिन हूँ कोई और नहीं। अतिथि को कुछ कहने और देने का अधिकार मुझे है, किसी और को नहीं।'

यह सुनते ही, बरबस, सुनील ने फर्श पर पैर पटक कर कहा—'एकादशी!'

एकादशी बोली—'हाँ, सुनील बाबू! आपको मेरे घर आये किसी

का अपमान करने का अधिकार नहीं है। सीमा के बाहर जाना भी आपके लिये शोभनीय नहीं।'

अनन्त बोला—'एकादशी, मेरा अनुरोध है कि तुम भी उस गाँव में जाओ। वहाँ की अवस्था देखो। एक बार समझो तो कि वहाँ मानवता किस प्रकार कराह रही है, तड़प रही है।'

एकादशी बोली—'हाँ, मैं चलूँगी। देखूँगी।'

उसी समय क्रोध से भरा सुनील वहाँ से हट गया। वह तेज चाल से चल, जूते की खट-खट आवाज करता हुआ अपने कमरे में पहुँच गया। एकादशीने मोटर को गैरेज से बाहर निकालने का आदेश दिया। अनन्त स्नान करने के लिये खड़ा हो गया। वह बाहर चला गया। इस बीच में एकादशी ने अनन्त के साथ जाने की तैयारी कर ली। उसने तिजोरी खोली और उसमें से दो-तीन हजार रुपये के नोट अपने बटुये में रख लिये, साड़ी बदल ली। जब अनन्त भोजन कर चुका और वह स्वयं भी खा चुकी, तो वह सुनील के पास जाकर बोली—'मैं अनन्त के साथ गाँव जा रही हूँ, आप भी चलिये न।'

सुनील बोला—'नहीं। तुम जाओ।

एकादशी बोली—'चलिये भी, घूमना ही सही! जब अनन्त कहता है, तो चलना चाहिये। दादा को भी ले चलिये।'

मोटर द्वार पर आ गयी। अनन्त, एकादशी, सुनील और दादा उसमें बैठ गये। वे सब अनन्त के बताये पथ पर चल दिये। लगभग एक घण्टे बाद वे उस गाँव में पहुँच गये। अनन्त के साथ वे सभी गाँव की चौपाल पर उतर पड़े। वहीं पर अनन्त ने सबको बैठाया और स्वयं चौपाल पर बैठे लोगों से बीमारों की पूछताछ में लग गया।

देखते-देखते वहाँ पर गाँव के व्यक्तियों का समूह एकत्र हो गया।

बहुत से बच्चे भी आ गये। कुछ मोटर पर चढ़ गये। इस प्रकार उत्सुक बने लोगों को लक्ष्य कर अनन्त बोला—'ये लोग भी गाँव के हैं। तुम्हीं जैसे !' और तभी उसने पास के घर से आये चीत्कार को सुन, एकादशी से कहा—'दिखता है, लड़का मर गया। एक ही था, अपने माँ-बाप का इकलौता; जो कल बीमार पड़ा और आज चला गया। मैं जब सुबह गया था, तो वह अच्छी स्थिति में नहीं था।' यह कहते हुये अनन्त खड़ा हो गया। उसके साथ एकादशी भी खड़ी हो गयी। वह बरबस ही वेदना से प्लावित बन गयी। अपने हाथ में लिये बटुये को वह अनन्त की ओर बढ़ा कर बोली—'इसमें जो कुछ है, वह तुम्हारा है। तुम्हें खर्च करने का अधिकार है।'

अनन्त ने बटुवा ले लिया। वह बोला—बड़ी कठिनाई है। इन रोते हुओं को समझाना मेरे लिये कठिन है। आओ, मेरे साथ। जब आई हो तो अपनी आँखों से देखो, इस मानव की पीड़ा और व्यथा को। मुझे अनेक बार लगा है कि ऐसी स्थिति में आकर भगवान भी रोता है, चीखता है !'

एकादशी साथ चल पड़ी। जिस घर से रोने की अवाज आ रही थी, अनन्त उसी ओर चल दिया। सुनील वहीं रह गया। अनन्त ने एकादशी को सुनाया—'ऐसे तो यह इन्सान चैन नहीं पायेगा ! यह पराश्रित ही रहेगा ! यह नियति जो इस विश्व का संचालन करती है, रचना करती है, कभी भी इस जगत को आशीष नहीं देगी। यहाँ दुराव है। व्यक्ति-व्यक्ति के मध्य में दीवारें खड़ी हैं। इसीसे तो यह नियति मुस्कराती है, ठहाका मारती है ! चीत्कार करती है ! अब तुम देखोगी, तो कहोगी कि नियति की कैसी विडम्बना है। पर सचाई यह है कि इन्सान ही इन्सान की मृत्यु का कारण बना है ! पाप की रचना मनुष्य करता है।

देखा न तुमने, जो लड़का पाल-पोस कर उसके माँ-बाप ने बड़ा किया, वह सभी को छोड़कर पल-भर में चल दिया। समाज के किसी व्यक्ति ने भी उसकी ओर नहीं देखा। उसे सहारा नहीं दिया। अब कोई भी उसके लिये हा-हा खाये तो......चीत्कार करे तो! सभी व्यर्थ हो गया!'

लक्षित घर पर जाते ही अनन्त ने रोते हुए पिता को समझाया, उसे शान्त करने का प्रयत्न किया। एकादशी के बटुवे से उसने दस रुपये निकाले और कफन के लिये उस व्यक्ति को दिये। फिर वह घर में गया। मृत की युवा पत्नी रोते-रोते विक्षिप्त और अचेत बन गयी थी, माँ जैसे रोते हुए थक चुकी थी। वह निःशक्त थी। उस समय एकादशी का ध्यान मृत की पत्नी पर था। जिसने रोते-रोते सिर फोड़ लिया था। उससे खून बह रहा था। उसकी ओर देखते हुए एकादशी ने कहा—'शान्त बनो, बहिन! भगवान को यही मंजूर था! तुम्हारा और जाने वाले का इतना ही संयोग था!'

अनन्त बोला—'अभी वर्ष भर हुआ कि इन दोनों का विवाह हुआ था। यह बेचारी गौनिहाई आई और विधवा बन गयी।'

एकादशी ने अपने आँचल से उसके आँसू पोंछे और अत्यधिक सहृदयता के साथ उसके सिर पर हाथ रखा!

उसी समय अनन्त बोला—'लोग धन को ही श्रेष्ठ और जीवन की परम निधि समझते हैं। पर धन तो सेवा है। इसी को अर्जित करना चाहिये। जो सेवक है, जो दूसरे के प्रति श्रद्धालु है, वही धनवान और सम्पन्न है।'

एकादशी ने अनन्त की बात सुन ली और मृत की पत्नी को देखते हुए अनन्त से कहा—'तुम्हारे हाथ में जो कुछ है, तुम उसे खर्च कर दो। इस गाँव के दुखियों को बाँट दो।'

अनन्त बोला—'ईश्वर करे, तुम सदा इसी भावना पर टिकी रहो। इसी पर स्थिर रहो। उस अवस्था में यह अनन्त भी तुम्हारे चरण पकड़ लेगा।'

यह सुन एकादशी सीधी खड़ी हो गयी। वह अनन्त की ओर देख, धीमे भाव से मुस्करा दी।

अनन्त ने कहा—'आओ, काम अधिक है। तुम्हें लौटना भी है।' यह कहते हुए एकादशी को साथ लेकर वह फिर दूसरे घर गया। वहाँ जाकर अनन्त बोला—'बस, केवल माँ ही शेष है! तीन लड़के थे, तीन बहुएँ, जो सभी गये·······सभी अपने अपने रास्ते चले गये·····'

आह, अनन्त!' एकाएक एकादशी ने कहा।

'हाँ, एकादशी! युग बीत गये कि जिस ईश्वर की महिमा और दया के ऊपर आश्रित हुआ यह मानव भूल-भुलैया में खोता रहा है, यह आज तक नहीं समझा, इससे नहीं समझा गया, इस जीवन-मृत्यु के रहस्य का भेद!'

एकादशी ने देखा कि घर के आँगन में दो स्त्री और एक पुरुष जमीन पर डाल दिये गये हैं। वे सभी कपड़े से ढँके हैं। एक-एक के मुँह को खोलकर दिखाते हुए अनन्त बोला—'एकादशी, मैं वैराग्य और दुनिया को छोड़ने की बात नहीं सोचता। पर इतना सब देखकर वैभव और सुख में रहने की भी कल्पना नहीं करता। किलकिलाती मौत मुझे सदा दिखती है। वह हा-हाकार करती है। तुम जानती तो हो कि मैं नास्तिक नहीं हूँ। मैं ईश्वर को मानता हूँ। पर इस भयावने दृश्य को देखकर मैं नित्य सोचता हूँ आखिर हमारा औचित्य क्या है···? अर्थ क्या····!

उन तीनों मृतकों की ओर देखकर एकादशी ने अपनी भर आई हुई

आँखों को पोंछ लिया । मृत स्त्रियों में से एक की ओर संकेत करते हुये उसने कहा—'लगती है कि जैसे सो गयी है···अभी उठ जानेवाली है·····'

अनन्त बोला—ये सभी रात को मरे थे, जो अभी भी पड़े हैं। तुमने देख तो लिया, कितना अन्तर है इस अतुल्य समाज में ! कोई हँसता है, कोई रोता है । कोई अन्न फेंकता है और कोई उसके बगैर मृत्यु के मुँह में जाता है । इस पैसे के बिना आदमी भूखा मरता है । मुर्दा न फूँका जा सकता है, न उठाया जा सकता है ! यह कहते हुए अनन्त ने पास खड़े आदमी को कफन के लिये पैसे दिये । वह फिर एक अन्य मकान की ओर चल दिया। उसी समय उसने एकादशी को सुनाया—'इस बीमारीमें कोई बीमार के पास भी नहीं जाता । सेवा-सुश्रूषा नहीं करता । सभी डरते हैं कि छूत लग जायगी·····कहीं बीमारी उन पर न आ जावे !' यह कहते हुए उसने नीले आकाश की ओर आँखें उठा दीं और वेदना के स्वर में बोला—'आश्चर्य है कि मानव, जो कि धर्म का अनुष्ठान करता है, विवेक का पाठ पढ़ता है, इतना देखकर भी नहीं लजाता । यह प्रगतिशील मानव जाने क्या-कुछ बन गया है ! जाने यह कैसा प्रकाश पा गया है । सुनता हूँ कि अन्धेरे से निकल आया है । हमें बताया जाता है कि इन्सान पशु से श्रेष्ठ बन गया है । कहा जाता है कि यह सचेत और जागरुक हो गया है । पर मैं तो कहता हूँ, हम पशु ही रहते तो ठीक था । वहाँ प्रेम और अपनापन तो था । वहाँ हमें जीवन-उत्सर्ग तो दिखायी देता । थोथा आदर्श न झेलता । इन्सान भावना और भगवान की आड़ लेकर दूसरे का बध करता हुआ न दिखायी देता·····यह इन्सान·······'

लक्षित घर पर पहुँच कर अनन्त ने बीमार को सान्त्वना दी और उसकी पत्नी को दस रुपये देकर जब वहाँ से चला तो फिर चौपाल की ओर मुड़ता हुआ रास्ते में बोला—'एकादशी, तुम कहोगी तो कि

यह अनन्त कहाँ खींच लाया ? मेरा पैसा भी खर्च करने लगा। पर तुम आयी, तो यह इन गाँववालों के लिये भी अच्छा हुआ। तुम्हारी इस कृपा को पाकर कुछ जीवित हो जायेंगे और जो मर गये हैं, वह मानव की तरह कफन से ढँक कर फूँक दिये जायेंगे।'

एकाएक एकादशी विह्वल बन गयी। वह छूटते ही बोली—'अरे, अनन्त तुम···सच, तुम !'

अनन्त ने कहा—'सच, तू दयामयी है, एकादशी !'

एकादशी ने कहा—'मैं नहीं तुम ! यह तुम्हारा ही आभार है। तुम्हारा ही मन्त्र है। भला मेरे पास क्या है ?"

चौपाल आ गयी। एकादशी को देखते ही चिन्तित स्वर में सुनील बोला—'तुम आ गयी एकादशी ! बोलो, तुमने किसी को छूआ तो नहीं। मैंने अभी सुना कि यहाँ छूत का रोग है। जो भयंकर होता है,

बात सुनी, तो एकादशी कषैले भाव से मुस्कराई। स्पष्ट ही उसे सुनील की बात पसन्द नहीं आई। उसने यह भी देखा कि सुनील की बात अनन्त ने तो नहीं सुनली। वह अनन्त से बोली—'लोगों की दवा और खाने का प्रबन्ध करो।'

अनन्त ने बटुवे के रुपये गिने और गाँव के चौधरी को बुलाकर दे दिये। इसके बाद ही, जब वह लोगों के पथ्य और भोजन के प्रबन्ध की बातें कर रहा था कि तभी एकाएक उसको उल्टी हुई। सिर में चक्कर आया और वह बेहोश हो गया।

उस अवस्था को देख, सभी बेचैन हो गये। उस समूह में एक ही स्वर उठा—'अनन्त बाबू को बचाओ ! अनन्त देवता है ! गाँव उसका ऐहसान मन्द है !'

उस समय चौधरी ने अधीर बनकर एकादशी की ओर देखा। उसने

कहा—'आप डाक्टर को बुलाएँ। अनन्त भैया को यहाँ से ले जायें।'

इतना देख सुन, सुनील बोला—'देखा! मैं यही कहता था। एकादशी, तुम्हें समझाता था!'

एकादशी ने बरबस ही क्षुब्ध बनकर कहा—'भगवान के लिये अपनी जबान बन्द रखिये, सुनील बाबू! मुझे न मारिये!'

बात सुनकर सुनील सहम गया। एकादशी का चेहरा क्रोध से भी भर गया; यह भी उसने देख लिया। अनन्त उसकी निगाह में क्या कुछ है, यह भी उसने समझ लिया।

किन्तु एकादशी उस समय अनन्त को ओर झुकी थी। चिन्तित और खिन्न थी। कुछ आदमी अनन्त को हवा कर रहे थे, कुछ उसे घेरकर खड़े हो गये थे। लेकिन एकादशी अनन्त को देखती और कभी अपने पास खड़े हुए व्यक्तियों को। मानो वह सभी से अनन्त के जीवन की भीख माँग रही थी। वह अधीर और याचक बनी थी। अकल्पित और अप्रत्याशित आशंका की हिलोर बार-बार उसके मन में उठती और उसे बेचैन बना देती। उसी अवस्था में वह फूट कर रोती हुई चीख पड़ी—'अरे, अनन्त!'

दादा ने कहा—'नहीं, नहीं, बिटिया! भगवान भला करेगा। वह अनन्त को आशीष देगा। हमारे भैया ने इस गाँव का आशीष प्राप्त किया है, वह क्या व्यर्थ जायेगा! भगवान सभी कुछ देखेगा!' यह कहते हुए दादा का स्वर भी भारी हो गया। उस बूढ़े की आँखें भी रो पड़ी और उनका खारा जल उसकी सफेद दाढ़ी के बालों में विलीन हो गया।

———

: ९ :

किन्तु कुछ ही देर में अनन्त की चेतना लौट आई, जब उसने आँख खोली, तब उसकी दृष्टि एकादशी पर पड़ी। वह उसकी ओर झुकी थी। उस समय अनन्त ने अनुभव किया कि मानो उसका प्राण जा रहा है। शरीर शक्तिहीन बन चला है। अतएव, वह उठ नहीं सका। एकादशी का एक हाथ उसके मस्तक पर था। जब अनन्त ने आँख खोली तो एकादशी ने कहा—'तुम गाँव चलो। तुम्हें बुखार है।'

सुनकर कठिनाई से अनन्त बोला—'जिस गाँव के लोग मृत्यु और जीवन के मध्य खड़े हैं, उन्हें छोड़कर जाना क्या मुझे शोभता है? तुम जाओ। मुझे छोड़ दो। भाग्य के दरिया में बहने दो।'

सुनते ही एकादशी ने अपने स्वर पर जोर देकर कहा—'अनन्त, नहीं! कदापि नहीं!'

दादा पास ही खड़ा था। बोला—'बिटिया की बात मानो, अनन्त भैया! इस गाँव से चलो।'

उसी समय गाँव के चौधरी ने कहा—'तुम इस गाँव से चले जाओ, भैया! तुम बचे, तो हमारे काम आ सकोगे!'

सुनील बोला—'एकादशी, मैं फिर कहता हूँ, यह छूत का रोग है। बुद्धि से काम लो। आँखों देखते विष का घूँट न भरो।'

चौधरी बोला—'हाँ, हाँ, यह छूत का रोग है!'

झल्लाकर एकादशी बोली—'मैं जानती हूँ, समझती हूँ।' और उसने तभी अनन्त की ओर देखकर कहा—'चलो, उठो।'

अनन्त की आँखें जल रही थीं। शरीर भी गरम तवा बना था। उसने अधीर बनकर ममता के साथ कहा—'एकादशी, लोगों की बात मानो। सुनील बाबू ठीक कहते हैं। बुरा न मानो। मुझे यहीं रहने दो। जब तक साँस है, इस गाँव के स्त्री-पुरुषों की मृत्यु और जीवन की पीड़ा देखने दो। मेरा यही अध्ययन है। मौत किस प्रकार निर्मम बनकर इस इन्सान को डसती है, मैं यही देखना पसन्द करता हूँ। जीवन की इस असमता में खो जाना चाहता हूँ। इस अनन्त को मरना है, मरेगा। तब क्या तुमसे रोका जा सकेगा? वह शुभ दिन आज आये तो! कल आये तो! तुम जाओ!'

एकादशी विचलित बन गयी। वह नितान्त आहत हुए स्वर में बोली—'ओह, तुम बड़े कठोर हो! पत्थर हो!'

तभी सुनील बोला—'सन्ध्या आ रही है। कच्चा रास्ता है। चलना है।

किन्तु एकादशी मौन थी। उसकी आँखें भरी थीं और उसकी कुछ बूँदें अनन्त के मुँह पर भी टपक चुकी थीं।

चौधरी बोला—'तुम लोगों की बात मानो, अनन्त बाबू! तुम जाओ।'

सुनील बोला—'हाँ, अनन्त! चलो न! एकादशी यही चाहती है।'

अनन्त ने चौधरी की ओर देखा—'तो मेरी आवश्यकता नहीं है?'

चौधरी बोला—'अब तुम भी बीमार हो। बेकार हो।'

'अच्छा, अच्छा, तो मैं चला जाऊँगा। एकादशी के साथ ही जाऊँगा।' कहते हुए उसने एकादशी की ओर देखा। उसके गले में अपनी बाहों को डाल दिया और बोला—'यह बड़ा बोझ तुमने उठाया है। देखो, सम्हाल लेना।'

एकादशी ने दादा से कहा—'सहारा दो। ले चलो।'

अनन्त मोटर में लिटा दिया गया। सभी बैठ गये। एकादशी अनन्त के पास बैठ गयी। गाँववालों से विदा ली और वे सब चल दिये। जबगाड़ी धूल उड़ाती हुई गाँव से दूर निकल गयी, तब एकादशी के मन में गाँव की विपिन्नता और नियति की निर्दयता की बात आ गयी। वह उसी पर टिक कर अपने-आप बोली—आखिर आदमी क्या है! पानी का बबूला! जो कभी भी उठता और बैठ जाता है!

उस समय अनन्त आँखें बन्द किये पड़ा था। बीच-बीच में कराहता था। एकादशी ने अपना एक हाथ उसके सिर पर और दूसरा छाती पर रखा था। बीच-बीच में वह उसका सिर भी सहलाती थी। सुनील और दादा आगे बैठे थे। गाड़ी दौड़ी जा रही थी। रास्ते के खेतों में काम करने वाले किसान मोटर की ओर उत्सुक दृष्टि से देखने लगते। तभी एकादशी कह रही थी—आखिर, आदमी भिखारी क्यों? विभिन्न और मोहताज क्यों? फिर उसने अपने-आप कहा—एकबार अनन्त ने कहा था कि तुम्हारे पास जो दौलत है, यह बड़ा महल और जायदाद है, यह दूसरों की है। छीनी गयी है। ठगी है। सर्वत्र यही परिपाटी है। संसार के समस्त भू-भाग पर इने-गिने व्यक्तियों ने अपने नाम की मुहर लगा रखी है। तभी तो सर्वत्र चोरी है, लूट है। इसी परम्परावश डाकू और खूनी भी पैदा हो गये हैं।

एकादशी को याद आया कि तब उसने अनन्त की बात को स्वीकार नहीं किया था। किन्तु उस दिन जब उसने अपनी आँखों से एक माँ के जवान पुत्र को मरते हुए देखा, पत्नी को सिर धुनती पाया तो, एकादशी सचमुच ही काँप गयी। उसके पैरों के नीचे की धरती भी हिलती दिखायी दी। तभी उसने अनुभव किया कि अनन्त जो कुछ कहता है,

दिया० ६

वह ठीक है। उसका विचार पुष्ट है। जीवन का दृष्टिकोण सही है।

तभी अनन्त ने एकाएक कहा—माँ!

एकादशी ने ममता भरे स्वर में कहा— 'अनन्त, क्यों?'

किन्तु अनन्त फिर मौन हो गया। एकादशी अपने मन में बोली—यह अनन्त एकबार कह रहा था, इस मानव ने मानव में विभिन्नता डाल दी है। दुराव कर दिया है। यह दुनिया कहने को सभी की है, परन्तु इस पर आधिपत्य धनिकों का है। दुनिया का एक बड़ा भाग लोगों की जूठन पर निर्वाह करता है। एक छोटी-सी धनिक जमात, विशाल जन-समुदाय पर शासन करती है। उनसे जानवरों के समान व्यवहार चाहती है। यह कहते हुए एकादशी ने साँस भरी और खेतों की ओर देखा। मोटर दौड़ रही थी, उसके साथ पेड़ भी दौड़ रहे थे। वे पीछे छूट रहे थे। फिर मन में वह बोली, ठीक तो कहा अनन्त ने, एक गड़रिया सहस्त्रों भेड़ों को चराता है, हाँकता है। इसी प्रकार यह मनुष्य! एक कारखाने का मैनेजर सैकड़ों मजदूरों पर शासन करता है, उसी प्रकार एक राजा लाखों, करोड़ों मनुष्यों का भाग्य निर्माता है। अन्नदाता है! जो अन्न पैदा करते हैं, उन्हीं का वह दाता है। सचमुच, यही अन्याय है। पाप है! भ्रष्टता है। इस इन्सान में तभी रोष है, बगावत है। ईश्वर की परम्परा को समर्थ समाज ने कभी स्वीकार नहीं किया। उसका सदा उल्लंघन किया है।

उस समय ऐसा लगा मानो एकादशी की साँस रुक गयी। वह उसे पीड़ा पहुँचाने लगी। जैसे जहरीला धुआँ उससे अन्तरतन में घुट गया हो। उसका प्राण छटपटा गया। रास्ते में अन्धेरा छा गया था। उस अन्धेरे पथ को देखते ही उसे ध्यान आया कि जब अनन्त ने इतनी सब बात कही थी, तब उसे सुनकर मैंने कहा था,—तुम निर्धन हो न, इसीलिये

धनवान से घृणा करते हो। उसेविषधर मानते हो। पर उस समय अपनी बीती बात को याद कर एकादशी लजा गयी। वह अपने आपको हीन समझने लगी। अनन्त के समक्ष तुच्छ !

तभी अनन्त ने मुँह पर से चादर हटाई। उसने पास बैठी हुई एकादशी की ओर देखा।

किन्तु एकादशी के मन में जो तूफान उठा था, वह उसी में उड़ती हुई अपनी बात पर टिकी थी। वह कह रही थी—'आज मैंने सभी कुछ देखा। जीवन को समझा ! उसकी वास्तविकता को पहचाना !'

अनन्त ने कहा—'अब तुम्हारा गाँव कितनी दूर है, एकादशी ? मुँह सूख रहा है। प्यास से दम निकला जा रहा है। बड़ी वेदना है। प्राण खींचे जा रहे हैं !'

एकादशी ने जब बात सुनी, तब वह आसमान से पृथ्वी पर जा गिरी। वह बोली—गाँव पास आ गया है। हमारे खेत आ गये हैं।'

'अच्छा !' कहते हुए अनन्त ने फिर मुँह ढँक लिया।

एकादशी ने अपने आप कहा—अनन्त का बुखार बढ़ गया है। बेचैनी भी अधिक है। यह कहते ही, उसे उस छूत की बीमारी का भान हुआ। वह उसकी भयंकरता में खो गयी। सुनील ने कहा था कि मुझे बचना चाहिये। वह इस अनन्त से कैसे बचूँगी ? क्या यह मुझे अच्छा लगेगा पर, अनन्त नहीं रहा, तो क्या मैं सुखी रहूँगी। ....हाँ, वह सुनील इतना नहीं जानता। समझता भी हो, तो पसन्द नहीं करता। इसका अपना स्वार्थ है। दम्भ है। इसने भी ऊँचाई की ओर देखा है। धन के साथ सुन्दर नारी को प्राप्त करना इस सुनील ने भी जीवन के प्रथम चरण में ही मान लिया है....मूर्ख कहीं का !

और उसने तभी धुँधले हो आये अन्तरिक्ष की ओर देख, नितान्त विनीत बने भाव में मन में कहा—'इस अनन्त को जीवन दो, मेरे देवता! चाहो तो मुझे ले लो! जिसकी इस जगत को आवश्यकता है, उसे रहने दो, इस अनन्त की साधना है। इसके पास अध्ययन है। विचार है। भला मेरे पास क्या·······केवल जीवन का भोग·······सड़ी हुई वासना···रे, परमात्मा!'

मोटर घर के द्वार पर जाकर रुक गयी। दादा ने नीचे उतरकर जब एकादशी की ओर देखा, तो पाया कि वह रो रही है। जाने कब से रोती आ रही है। तभी वह मौन बनी चली आ रही है। यह देख, उसने कहा—'बिटिया रानी, तुम उतरो। घर में चलो। मैं अनन्त भैया को लाता हूँ। दूसरों की सहायता लेता हूँ।'

घर के अन्य आदमी आ गये। सुनील पहिले ही चला गया। एकादशी ने अनन्त को उतरवाया। उसको लेकर घर में गयी। अपने कमरे में ही उसे ले गयी। अनन्त उसी के पलंग पर लिटा दिया गया। बुखार तेज था, इसलिये वह बोल नहीं सकता था, बेसुध पड़ा था। शायद सो गया। किन्तु उस रात में एकादशी अधिक नहीं सो सकी। दादा निरन्तर उसके पास बैठा रहा। कठिनाई से वह रात बीती, नया प्रातः आ गया।

दूसरे दिन डाक्टर आ गया। वह दवा देकर चला गया। रोगी के प्रति सावधानी बरतने का भी उपदेश दे गया। इस प्रकार उपचार आरम्भ हो गया। डाक्टर नित्य आता रहा। किन्तु रोगी की स्थिति सम्भल नहीं रही थी। वह दिन-पर-दिन विषम बन रही थी। इस बीच में ऐसे कई अवसर आये कि जब यह देखा गया कि अनन्त अब गया···अब गया! इधर उसका बोल भी बन्द हो गया था। एकादशी

ने नगर से कई डाक्टर बुलाये। उसने पैसे का मोह नहीं किया। पैसे को पानी की तरह बहाया। उन दिनों वह स्वयं ऐसी लग रही थी कि जैसे महीनों की बीमार हो। उसका सभी क्रम बिगड़ गया था। खाने-सोने के समय में भी व्यक्तिक्रम हो गया था। यों घर-का-घर बेचैन था। गाँव का अधिकांश जन-समुदाय भी आता और जाता था। मन्दिर में अनन्त के लिये प्रार्थना होती। गरीबों को अन्न बाँटा जाता। किन्तु फिर भी सभी की यह धारणा थी कि अनन्त नहीं बचेगा। चला जायेगा। इसने अपना रास्ता देख लिया है। इसने जीवन से मुँह मोड़ लिया है·······।

उस दिन रात-भर एकादशी अनन्त के पास बैठी थी। प्रातः के समय अपने विस्तर पर जा पड़ी। किन्तु कुछ देर बाद ही वह उठ आई। तभी उसे देख दादा विलख पड़ा—'बिटिया रानी, अनन्त भैया जा रहा है······जानेवाला है!' उस समय घर के सभी नौकर अनन्त की शैया के पास जमा थे। गाँव के कुछ व्यक्ति भी आ गये थे। देर हुई कि डाक्टर को बुलाने मोटर जा चुकी थी। उसे दादा ने भेज दिया था।

दादा की बात सुन एकादशी रोयी नहीं। वह पत्थर की तरह पथरायी आँखों से अनन्त की ओर देखने लगी। जैसे वह उसे खोजने लगी। वह समझने लगी कि यह अनन्त कितना निर्मोही है···कितना कठोर!

उसी समय एक व्यक्ति ने कहा—'गंगा जल लाओ···तुलसी-दल····'

मानो चौंककर एकादशी ने कहा—'क्या····क्या जा रहा है अनन्त? चला जायेगा?'

तभी आवाज उठी—'डाक्टर आ गया।'

और सच, डाक्टर आ गया। उसे देखते ही एकादशी ने अत्यन्त बिनीत बनकर कहा—'डाक्टर मेरा सभी कुछ ले लो, पर इस

अनन्त को बचा लो !'

डाक्टर ने कहा—'देवि ! मैं देवता नहीं...सच, भगवान नहीं।' और वह रोगी की परीक्षा करने में लग गया। जब वह अपना काम सम्पादित कर चुका, तब एकादशी को लक्ष्य करके बोला—'मुझे अब भी आशा है कि यह रोगी नहीं जायेगा।' यह कहते हुए उसने इन्जेक्शन तैयार किया और अनन्त के शरीर में प्रविष्ठ कर दिया।

एकादशी बोली—'आज आप यहीं रहेंगे, डाक्टर ?'

डाक्टर मुस्कराया—'अभी मैं एक इन्जेक्शन और दूँगा। एक घण्टे तक रहूँगा। रोगी किस रास्ते पर जायेगा, यह भी बता सकूँगा।'

: १० :

योंही वह दिन बीत गया। रात आने तक अनन्त को चेत हुआ। वह एक दो बार बोल भी लिया। डाक्टर चला गया। वह कह गया रोगी रहेगा। अब नहीं मर सकेगा।

एकादशी को कुछ ढाढ़स मिला। वह अपने बिस्तरे पर जा पड़ी। सो गयी। कई रात की जगी थी इसलिये गहरी नींद से सो गयी। अनन्त के पास दादा को बैठने के लिये कह गयी। सोते हुए ही प्रातः होते उसने स्वप्न देखा कि वह स्वयं है, अनन्त है और सुनील है। तीनों कहीं चल रहे हैं। तभी रास्ते में एकाएक अनन्त एक खाई में गिर पड़ा। एकादशी ने देखा कि उस खाई में एक भयंकर काला साँप है। वह अनन्त को देख पाते ही उसकी ओर बढ़ा है। वह साँप क्रोध से फूत्कार कर रहा है। पूरे बल के साथ आधे-से-अधिक खड़ा हो गया है। वह

साँप बहुत कुछ अनन्त के पास आ गया है। और अब····वह साँप····· ···

इतना देख पाते ही एकादशी चीख पड़ी। वह खाई में कूद गयी। वह उसी स्थिति में सोते हुए पलंग से गिर गयी। अनन्त के पास बैठे हुए दादा ने पास के कमरे से जो धम्म की आवाज सुनी, तो तुरन्त उठ आया। उसने एकादशी को उस स्थिति में पाकर डरावने स्वर में कहा—'बिटिया रानी·······।'

किन्तु एकादशी ने कहा—'दादा, अनन्त········।'

दादा मुस्कराया—'वह सो रहा है। भगवान उसके ऊपर दयाकर रहा है। बिटिया, मारने वाले से बचाने वाला बड़ा है।'

यह सुनकर, एकादशी ने घुटनों पर मुँह रख लिया। उसने दादा की ओर देखकर कहा—'मैंने बड़ा खराब स्वप्न देखा·······बड़ा डरावना········'

दादाने कहा—'बिटिया, तुम्हारा दिल बड़ा कमजोर है। कोमल है।'

एकादशी खड़ी हो गयी। वह अनन्त के पास पहुँच गयी।

उसके पीछे ही दादा भी वहां पहुँचा। उसने एकाशी को सुनाया—'अभी कुछ देर हुई सुनील बाबू कहते थे कि उन्हें आज चले जाना है। वह जाना चाहते हैं।'

'तो——? एकादशी ने दादा की ओर देखकर कहा—'दादा, जाने वाले को मैं क्या रोक सकूँगी। वह जायें।'

बिटिया का उत्तर सुनकर क्षण भर को दादा स्तब्ध रह गया। वह स्वत: भी समझता था कि सुनील नहीं जायगा। एकादशी भी ऐसी आज्ञा नहीं देगी। पर देखा उसने कि दोनों विपरीत हैं। दोनों को ही एक दूसरे के प्रति समवेदना नहीं है। फिर भी वह एकादशी से

रुखा-सा उत्तर पाकर बोला—'न, बिटिया ! सुनील बाबू इस घर के अभ्यागत हैं। सम्माननीय हैं।'

'हाँ, हाँ, वे अभ्यागत हैं ! मेरे सिरताज हैं, तो !' एकादशी ने क्षुब्ध बनकर दादा को घूरा।'

यों एकादशी को क्रोध में देख दादा चला गया। वैसे वह उस क्रोध का कारण समझता था। वह जानता था कि इस बीच में सुनील बाबू ने एक दिन भी एकादशी के प्रति सहानुभूति नहीं दिखायी। अनन्त की एक बार भी सुध नहीं ली। मानो अनन्त उसका शत्रु था, प्रतिस्पर्धी था। वह सदा अपने कमरे में रहा। कभी नहर पर घूमने जाता रहा। अपने मन की उस अवस्था को लिये दादा सुनील के पास पहुँच गया। देखा कि सुनील अपने कमरे में कपड़े रख रहा था। इतना देख दादा ने जाकर कहा—'तो आप सचमुच ही जा रहे हैं, सुनील बाबू ? अभी क्यों ! कुछ दिन और न रह सकेंगे, क्या ?'

सुनील ने कहा—'न, दादा ! यहाँ बहुत रहा ! बहुत परेशान बना। मूर्ख भी बन गया।'

दादा ने कहा—'ऐसी तो कोई बात नहीं बाबू !'

किन्तु सुनील ने फिर अपना कुछ मत नहीं दिया।

दादा बोला—'तो लाइये कपड़े मैं रख दूँ। विस्तर बाँध दूँ।' उसने कहा—'सच, अच्छा नहीं लग रहा है। उधर बिटिया अनन्त की बीमारी के कारण परेशान है कि इधर आप.......'

सुनील बोला—'दादा, मुझे पता नहीं था कि तुम्हारी एकादशी के लिये वह अनन्त ही सब-कुछ है। इसका देवता है। तब मैं यहाँ एक दिन भी न टिकता !'

दादा ने यह बात सुनी, तो उसे अच्छा नहीं लगा। वह न चाह कर

भी बोल पड़ा—'बाबू, अनन्त भैया इसी योग्य हैं। हमारी बिटिया क्या, उन्हें कोई भी प्यार कर सकता है। देखा न आपने, उस गाँव का हर आदमी अनन्त के जीवन को माँग कर रहा था। पर आप जाने क्या सोचते हैं! क्या देखते हैं!'

बात सुनी तो सुनील ने आक्रोश भाव में दादा की ओर देखा। उसे ऐसा लगा कि जैसे यह बूढ़ा उसे मूर्ख समझ रहा है। सुनील ने बक्स का ताला बन्द कर दिया। बिस्तर बँध गया। तभी वह बोला—'कहाँ है एकादशी? उससे भी मिल लूँ। इतने दिन यहाँ रहा, इसके लिये धन्यवाद दे दूँ।'

दादा ने कहा—'बाबू, मैं जानता हूँ, तुम फिर आवोगे। तुम क्या हमारी बिटिया को भूल सकोगे? आओ, वह अनन्त भैया के पास है!'

सुनील कमरे से निकला और कन्धे पर कोट डाले हुए एकादशी के पास पहुँच गया। उसने वहाँ जाते ही कहा—'अच्छा, एकादशी, अब बिदा लूँगा। इतने दिन यहां रह कर जो स्मृतियाँ एकत्र की, उन्हें याद रखूँगा। अवसर मिला तो फिर आऊँगा।'

एकादशी खड़ी हो गयी और बोली—'तो आप अभी जा रहे हैं? इतनी जल्दी निश्चय कर लिया? अच्छा, क्षमा चाहूँगी, जो आपके आतिथ्य में भूल हुई हो! मैं इस समय स्वतः भी ठीक नहीं हूँ। इस अनन्त के जीवन की चिन्ता में लगी हूँ।'

सुनील बोला—हाँ, हां, यह तो मैं देखता हूँ। अनुभव भी करता हूँ। डाक्टर कहता था कि रोगी खतरे से बाहर हो गया। दो-चार दिन में रोग भी चला जायेगा। बधाई तुम्हें कि मौत के मुँह में जाते हुए इस अनन्त को बचा लिया। यह तुम्हारा ही काम था।'

एकादशी बोली—'सुनील बाबू, आपको कैसे बताऊँ, मेरी दृष्टि में

इस अनन्त का बड़ा महत्व है। मैंने इसे समझा है। बचपन से मेरी आंखों में रहा है। इसके लिये मेरा कोई भी त्याग छोटा है। मेरा जीवन ही क्या इस अनन्त के जीवन से बड़ा है···सच, निरा तुच्छ। इस अनन्त ने मुझे पागल बना दिया है। मेरा कोई भी निश्चय, मेरा कोई भी ध्येय इसकी इच्छा पर टिका है। पर आपने इस अनन्त को नहीं समझा, इसका मुझे खेद है।'

सुनील बोला—संसार बड़ा है एकादशी! किस-किस को समझा जायेगा! आदमी अपने को पहचान ले यही क्या कम है? काश, मुझे पहले पता नहीं था कि इस अनन्त में तुम्हारी इतनी गहरी आस्था है। इसके लिये तुम्हारे मन में प्रतिष्ठा है। व्यर्थ ही मेरा समय बरबाद हुआ। देखता हूँ मैं मूर्ख भी बना दिया गया। खैर! यह भी एक अनुभव हो गया,—कड़ुआ और खारा-खारा!'

एकाएक कठोर बनकर एकादशी बोली—'ओह! आप अपने मन में बहुत कुछ लेकर जा रहे हैं, सुनील बाबू! सुनिये, आप इस भ्रांति को निकाल दीजिये अपने मन से! मैं विवाह को प्रमुखता नहीं देती। ऐसा महत्व को नहीं समझती।'

सुनील ने पैर पटका। वह बोला—हाँ, हाँ, यही ठीक रहेगा। अनन्त के साथ योग का पाठ पढ़ना क्या उचित न होगा? अच्छा!' और वह वहाँ से लौट पड़ा। चल दिया। नौकर ने उसका सामान मोटर में जा रखा। वह गाँव से स्टेशन की ओर चल दिया। उस गाँव से बिदा हो गया।

उसी समय दादा वहाँ आया और बोला— 'सुनील बाबू गये। आखिर कब तक ऐसे पड़े रहते। उनके मन का काँटा अब अधिक चुभने लगा था। उन्हें परेशान कर रहा था।'

एकादशी ने इस पर अपना कोई मत नहीं दिया।

उसी समय अनन्त ने आँख खोली। एकादशी की ओर देखा। एकादशी उसकी ओर झुकी और बोली—अनन्त !

अनन्त बोल नहीं सका। वह पथरायी दृष्टि से एकादशी की ओर देखने लगा।

एकादशी बोली—'बोलोगे नहीं, बोलो ! अपनी तबीयत का हाल कहो। डाक्टर कहता है तुम जल्दी अच्छे हो जाओगे। फिर सेवा के क्षेत्र में उतरोगे।'

अनन्त तब भी चुप रहा। किन्तु इसके बाद ही, जब वह सामने की ओर दृष्टि उठाये देखता रहा, तो उसकी भर आई आँखें गालों पर बह आईं। उसी अवस्था में जब उसने एकादशी की ओर मुँह किया, तो वह तुरन्त बोल पड़ी—'अरे, तुम ! बोलो तो, क्या आ गया, तुम्हारे मन में !'

पर दिखता था कि अनन्त बोलना चाह कर भी नहीं बोल पा रहा था। उसने अपने हाथ को एकादशी के हाथ पर रख दिया और उसे पकड़ने का प्रयत्न किया। तब एकादशी ने देखा कि अनन्त का हाथ काँप रहा है, दुर्बल है। इसलिये उसने स्वतः ही उसका हाथ पकड़ लिया। उसने अनन्त के आँसू पोछ दिये और सामने आये दादा को देखकर कहा—देखो न, दादा ! अनन्त रो रहा है ! क्या जाने अपने मन में क्या ले रहा है। सोचता होगा कि मेरा कौन है·········मेरा··· ·····' यह कहते हुए स्वतः एकादशी का स्वर अवरुद्ध हो गया। उससे आगे नहीं बोला गया।

दादाने कहा—'बिटिया, तुम्हारा अनन्त समुद्री तूफान में फँस गया है। देखती हो न, इसे कष्ट है। इसीसे आत्मा रोती है। मन छटपटाता है।'

उसी समय फिर डाक्टर आ गया। उसने अनन्त को इन्जेक्शन लगाया। जब वह अपना काम समाप्त कर चुका, तो एकादशी की ओर देख हँसता हुआ बोला—शायद अब आप डाक्टर जैसी मनहूस सूरत को न देख पायें। रोग आज शाम तक और घट जायगा। तूफान उतर रहा है। तीन दिन की दवा है, यह पिलायें। गोलियाँ दें। फिर तीन दिन की और मँगा लें।'

'तो अब आप जायेंगे? देखती हूँ आज आपका पूरा दिन यहाँ लग गया।'

डाक्टर बोला—'यह मेरा काम था। इस अनन्त के जीवन का महत्व बड़ा था। इस अनन्त बाबू को गाँव वाले तो आदर की दृष्टि से देखते ही हैं, पर नगरवासी भी ऐसे व्यक्ति के दर्शन करना चाहते हैं। पिछले दिनों इन्होंने जो कुछ किया, उसका लेखा शहरों में भी सुगमता से पहुँच गया। अनन्त बाबू के फोटो सभी अखबारों में छपे। उत्सुकता से लोगों ने इसके बक्तव्य पढ़े।'

एकादशी ने कहा—'आप अपना बिल दे दीजिये।'

डाक्टर बोला—'वह भेज दूँगा। आपके ड्राइमर को दे दूँगा।'

दादाने कहा—'गाड़ी स्टेशन गयी है। आनेवाली है।'

एकादशी ने कहा—'डाक्टर, आपने मुझे अभारी किया। मुझे सन्तोष है कि अनन्त बच गया।'

बात सुनी, तो डाक्टर ने एकादशी की ओर देखा। वह बोला—'देखिये, मैं न अपने काम में पक्का हूँ, न उम्र में। शायद आपसे अधिक बड़ा नहीं हूँगा। तब भला यह आभार प्रदर्शन क्यों! मेरा यही काम है। हर्ष की बात है कि बरबस ही यह श्रेय मुझे मिल गया। अनन्त बच गया!'

उसी समय गाड़ी स्टेशन से लौट आयी। डाक्टर चल दिया। उसने कहा—'कभी फिर आया तो आपसे मिलूँगा। इस बार परिचय हुआ तो आगे इस सम्बन्ध को रक्षा करने का भी प्रयत्न करूँगा।'

डाक्टर के जाने के बाद एकादशी ने कई दिनों के उपरान्त अपने को हल्का और स्वस्थ पाया। उसने सुख और सन्तोष की साँस लेते हुए दादा से कहा—'डाक्टर भला था।' यह कहते हुए वह खड़ी हो गयी और फिर बोली—'अब तुम बैठो, दादा ! मैं स्नान कर लूँ। कपड़े बदलूँ। देखती हूँ, एक के बाद एक मेरे मन पर बोझ पड़ता गया। फूआ, सुनील, विवाह और यह अनन्त......भला कुछ ठीक है, मेरी समस्याओं का ! जैसे सभी ने अनन्त बन कर मुझे घेर लिया !'

दादा बोला—'हाँ, बिटिया ! इस बीच खर्च भी बहुत हुआ। सभी कुछ बदल गया। हमारा यह महल भी साहबों का बँगला हो गया।'

एकादशी चली गयी। जब वह अपने कमरे की ओर गयी तब दादा ने उसे देखते हुए अपने आप कहा—बेचारी !

और यह कहते ही वह दादा गहरे महत्व से भर गया। उसे लगा कि इस एकादशी को भी कोई टेक चाहिये......कहीं बैठना चाहिये ! पर कहाँ ? किस जगह ? जब यह बात उस वृद्ध के मन में आई, तो वह अत्यन्त गूढ़ और रहस्यमयी दृष्टि से शैय्या पर पड़े अनन्त को देखने लगा। तभी उसने निश्चय किया कि अनन्त भैया जहाँ चारपाई छोड़ कर खड़ा हुआ नहीं कि वह उससे एक ही बात कहेगा, सुनो भैया ! अब तुम्हारा जीवन, तुम्हारा नहीं, बिटिया का है। इसीने तुम्हें बचाया है ! अब इसके जीवन की रक्षा करना तुम्हारा काम है......इसके प्राणों की वाणी को सुनना तुम्हारा काम.......

इतना कहते हुए वह वृद्ध अनायास ही गद्गद् बन गया। क्योंकि उसे विश्वास था, अनन्त भैया उसकी बात नहीं ठुकरायेगा। मान लेगा।

: ११ :

अनन्त स्वस्थ हो गया। वह एक दिन एकादशी के साथ घूमने चला और नदी पर पहुँच गया। वहाँ जाकर वह नदी के जल में उठती हुई लहरों को लक्ष्य कर एकादशी से बोला—'आँधी का झोंका तो ऐसा आया था कि मैं उड़ जाता। फिर इस प्रकार तुम्हारे साथ बैठकर इन लहरों का थिरकन न देख पाता। पर रुक गया। तुमने रोक लिया। शायद हमारा अभी और संयोग बाकी था। हमें और मिल कर बैठना था।'

एकादशी बोली—इस जीवन और मृत्यु की कल्पना ने तुम्हें बाँध लिया है। देखती हूँ तुम्हारा यही चिन्तन है। पर क्या ठीक है यह? मैं इसे नहीं मानती। हम रहें तो! न रहें, तो! सुना नहीं, जब तक साँस, तब तक आश·······क्या तुम इस उक्ति को स्वीकार नहीं करते?'

किन्तु अनन्त ने अपनी ही बात लेकर कहा—'दादा कहता था कि मेरी बीमारी में तुम रात-दिन रोयी हो·······हर क्षण व्याकुल रही हो। तभी तो मैं पूछता हूँ, यदि यह अनन्त मर जाता तो?' यह कहते हुए अनन्त ने अपना गरम हाथ एकादशी के हाथ पर रख दिया। वह फिर बोला—'एकादशी, जानती हो न, इस नदी का जल गंगा के जल में से आया है। तुम्हें इसी का साक्षी है। आज अपनी बात कहो। यदि तुम्हें इसी अनन्त में खो जाना है, तो खो जाओ। अपनी पूजा, ध्यान और साधना इस अनन्त को देना चाहती हो, तो दो। यह तुम्हारे लिये सुगम है। प्राप्य है। पर यह कहना मुझे सदा शोभता है, कि

सत्य यह नहीं है। इस राग में लय नहीं, वासना है। सुगन्ध नहीं, दुर्गन्ध है। पीड़ा है, क्षोभ है। यही तो तुमने गाँव में जाकर देखा था। तुम्हें ले जाने का मेरा यही उद्देश्य था।'

एकादशी बोली—'अनन्त, मैं तुम्हारी तरह वृद्ध आत्मा वाली नहीं हूँ। मैं स्त्री हूँ। अकेली हूँ।'

यह सुनकर अनन्त चुप हो गया है। वह एकादशी की अन्तिम बात को लक्ष्य कर नदी की ओर देखने लगा।

इसके अनन्तर ही दोनों उठ गये। जब वे घर पहुँचे, तो दादा बोला—'अनन्त भैया, महीदपुर से दो आदमी आये हैं। वे तुम्हें पूछते हैं।'

एकादशी बोली—'उन्हें ले आओ।'

अनन्त बोला—'जाने क्यों आये हैं, ये आदमी?'

कमरे की ओर जाते हुए एकादशी ने हँस कर कहा—नेताजी के पास क्यों आते हैं लोग! कुछ माँगने आये होंगे और क्यों आये हैं।'

अनन्त बोला—'मेरे पास क्या है! जब भी जरूरत पड़ी, तुम्हारे द्वार पर आया।'

इतने में दादा दोनों व्यक्तियों को ले आया। उन्हें देखते ही अनन्त बोला—'क्यों चौधरी, कैसे आये?

चौधरी ने कहा—'गाँव वालों की जो बात है वही हम कहने आये हैं। इधर दो फसलें चौपट हो गयीं। किसान भूखे मरने लगे। जानते तो हो तुम, किसान को जब रोटी नहीं मिलती है, तो रोता है। रियासत के आदमी सुनते नहीं। कहो तो मारते हैं। बहू-बेटियों की इज्जत छीनते हैं।'

अनन्त बोला—'तो इसमें मैं क्या करूँ, चौधरी? मैं रियासत से नहीं कह सकता। यह अनन्त कुछ दे नहीं सकता, स्वयं कंगाल है।'

चौधरी ने कहा—'रियासत तो मिट गयी, पर पाप बाकी है। जुल्म उसी तरह होता है। तुम चाहो तो कुछ कर सकते हो। गाँव की बात ऊपर पहुँचा सकते हो।'

'मैं अभी बीमारीसे उठा हूँ। कमजोर हूँ।'

'हाँ, यह तो सुना।' चौधरी बोला—'पर हम देहाती, हम बैल और खेत की मिट्टी के साथ काम करने वाले किसान जब दुःखी होते हैं, जब रूखी रोटियों के लिये भी मुहताज बनते हैं, तो सहारा ढूंढ़ते हैं। तुम वही हो। तुम हमारे सहायक हो। चाहो तो कुछ करो। किसान तो अपने आँसुओं से ही अपनी कहानी कह सकता है।'

इतना सुनकर अनन्त मौन रह गया। गम्भीर बन गया।

उसी समय एकादशी ने उन किसानों की ओर देखा। उसने कहा—'आप क्या चाहते हैं चौधरी? क्या अनाज? छोटा राज्य तो अब रहा नहीं, बड़े राज्य में मिल गया। अब तो तुम्हारा राजा भी नौकर हो गया।

दोनों किसान चुप उदास बैठे रहे।

एकादशी ने दादा से कहा—'इन्हें भोजन कराओ! रात में सोने का प्रबन्ध करो।' फिर इन लोगों से वह बोली—'अब आप भोजन कीजिये। दूर से आये हैं, थके हैं।'

दादा ने कहा—'हाँ, आओ चौधरी। कल सुबह बात करना।'

जब वे दोनों दादा के साथ चलने लगे, तो दूसरे ने अनन्त की ओर देखकर कहा—'हमें सुबह लौट जाना है। गाँववालों ने भेजा है। तुम पर भरोसा किया है।'

अनन्त बोला—'अच्छा, अच्छा।'

एकादशी बोली—'विश्वास नहीं होता, मेरी समझ में नहीं आता कि इतना कठोर और बर्बर बन गया है, शासन-तन्त्र! ऐसे किस प्रकार देश जीवित रहेगा! मर जायगा!'

जब वे दोनों किसान चले गये, तब अनन्त बोला—'देश स्वतन्त्र हो गया है, पर स्थिति यह है कि समाज का मध्यमवर्ग और निम्नवर्ग उच्चवर्ग द्वारा कृश किया जा रहा है। शोषण की चिर-पुरातन परम्परा कार्यरत है। समाज स्वार्थ-मय है। अन्धा है।'

एकादशी बोली—तो तुम क्या करोगे? क्या उस क्षेत्र में जाओगे? अभी तुम कमजोर हो। अभी कुछ कर सकने योग्य नहीं हो।

बात सुनकर अनन्त एकाएक बोल नहीं पाया। वह कमरे की खिड़की के बाहर देखने लगा। उसी ओर देखते हुए उसने कहा—'मैं बहुत सोचता हूँ कि मानव, जब कि धर्म और ईश्वर को मानता है, उसका प्रेरक और उपासक बना है, तो क्या, एक दिन भी ऐसा सिद्ध हुआ,—कभी नहीं! लोग मन्दिर, मस्जिद और गिरजे में जाते हैं,—जाने क्यों? वहाँ क्या कुछ पाते हैं? जब इन्सान अपने में दया, ममता और मनुष्यता नहीं पा सकता, तो फिर कुछ कहना क्या···कुछ सुनना क्या!'

अपनी बात कहते हुए अनन्त अत्यधिक गम्भीर बन गया। उसका मुँह भी लाल हो गया। तदनन्तर ही उसने फिर कहा—'एकादशी, इन महलों और बंगलों में बैठकर आदमी, आदमी नहीं बना। जानवर बन गया। नराधम हो गया। समझती हो न, गन्दे पानी का परनाला ऊपर से गिरता है और वह समूचे समाज को भ्रष्ट करता है। आज इस देश की यही अवस्था है। यह रोग पुराना है। यह हाहाकार देर से सुन पड़ता है।'

एकादशी बोली—'इस दुनिया में सभी कुछ है। न्याय भी है। इन्सान को दया और ममता भी है। चित्र का दूसरा पहलू भी है।'

दिया० ७

मानो ईषत् भाव से अनन्त मुस्कराया और बोला—'वह पहलू भी साफ नहीं है ! घिनौना है ! उसमें भी क्रूरता है । सदियों से दबोची गयी इन्सान की आत्मा निःशक्त बन गयी है । देखती हो, इन्सान ने हीरे की जगह पत्थर उठा लिया है । इस चाँदी-सोने के ठीकरों ने क्या कुछ दिया है । अपने समान इन्सान को कठोर बना दिया है ।'

हँसती हुई एकादशी बोली—'तुममें गुस्सा है । प्रतिशोध की भावना है । बोलो, तुम्हें करना क्या है ?'

अनन्त बोला—'ये गाँव वाले आये हैं, तो इन्हें कुछ देना चाहिये ।'

एकादशी ने कहा—'अच्छा ! जो कहोगे, हो जायेगा ।'

उसी समय दादा आया । उसने पूछा—'खाना लाऊँ ?'

एकादशी बोली—'ले आओ ।'

जब दादा चला गया तब अनन्त बोला—'कहोगी, तो मैं उधर हो आऊँगा । अधिकारियों से मिल लूँगा ।'

एकादशी बोली—'अभी नहीं । इस समय जाना आत्म-हत्या के समान होगा ।'

बात सुनकर अनन्त चुप रह गया । वह फिर कुछ नहीं कह सका ।

: १२ :

अनन्त की प्रेरणा पर एकादशी ने दो सौ मन अनाज अकाल पीड़ित किसानों को दे दिया । लेकिन अनन्त की यह भी आकाँक्षा थी कि वह स्वयं उस क्षेत्र में जाये और क्षुधा पीड़ित किसानों की अवस्था देखे ।

परन्तु एकादशी की सहमति उसे नहीं मिल रही थी कुछ। समय से अनन्त के मन में यह बात बार-बार उठती कि वह अपनी दिशा का और अपने पथ का स्वयं निर्माण करे, किन्तु उसे लगा कि वह स्वतन्त्र नहीं है। एकादशी पर आश्रित है। उसका जीवन उसी की इच्छा पर केन्द्रित है।

जब-तब अनन्त इतना देखता और अनुभव करता, तो उसे अच्छा नहीं लगता। मानो वह स्वतन्त्र वायु-मण्डल से उठकर एकान्त में बैठ गया है। वह सोने-चाँदी की दीवारों से घिर गया है। उसका दम घुटने लगा है। अनन्त यह भी देखता था कि एकादशी के समक्ष वह दिन-पर-दिन कृतज्ञ बनता जा रहा है। उसके आभारों का बोझ भारी हो गया है। अनन्त के कहने पर ही एकादशी अपने जिस धन को बाँट रही है, तो वह अपना एक विशिष्ट महत्व रखता है। उसके अन्तराल में एक विशेष उद्देश्य छिपा है। जब वह पूरा नहीं होगा, तब क्या वह यहाँ ऐसा ही रहेगा? एकादशी का विश्वास-पात्र बना रहेगा।

अपने मन की उस स्थिति में आते ही, अनन्त सिहर जाता। नारी की उस प्रतिक्रिया का रोष कितना भयानक है, कितना कठोर है, उसे अनुभव कर वह अत्यन्त गम्भीर बन जाता। वह स्पष्ट अनुभव करता कि जो नारी प्यार करती है, अपने को समर्पित करती है, वह तिरस्कार का घिनौना और भद्दा प्रदर्शन भी कर सकती है। वह सर्पिनी बन कर काट भी सकती है।

लेकिन यह स्पष्ट था कि अनन्त उस अवस्था को देर तक नहीं रोक सकता। वह इतना भारी नहीं है। वह दो में एक ही बात कर सकता है—या तो एकादशी के साथ भोग और वासना की क्रिया का सम्पादन करे, अथवा जनता के मध्य जाकर सेवा और आदर्श का प्रसार करे। इन दो में

से उसे एक चुनना है । यदि वह एकादशी के रंग में रंग जायेगा, तो अपनी दृष्टि में गिर जायेगा । उसकी साधना नष्ट हो जायेगी......अनन्त नाम का व्यक्ति मर जायेगा । वह फिर कुत्ता रह जायगा......हड्डी और माँस को चाटता दिखायी देगा......

निदान, अनन्त अपने से प्रश्न करता, बोलो, जिस धनिक वर्ग के प्रति तुममें उपेक्षा है, तुम उसीसे सम्बन्ध रखना चाहते हो? एकादशी भी धनिक की पुत्री है । यह भी पैसे से खेलती है । उसी समाज की सदस्या है । किन्तु तदन्तर ही फिर वह अपने कहता—तो क्या एकादशी की इस अनुपम भावना को ठुकरा दोगे? उसके अपरिमित आभारी को भूल जाओगे? जानते तो हो, कि वह कोमल है, स्नेहमयी है, मृदु है । तुम्हारी भर्त्सना पाकर वह जीवित नहीं रहेगी,—मर जायेगी!

इस प्रकार अनन्त स्वतः ही उत्तेजित हो जाता । वह कहता, जब मानव इतना दुखी है, इतना दीन और अपवश है, तो फिर यह विहाग क्यों......भोग क्यों......आमोद-प्रमोद क्यों......मेरे लिये सुन्दर और प्रेरणामयी एकादशी का सम्भोग और सामीप्य क्यों ...?

वह कहता, अजीब स्थिति है यह! मानव की कितनी दुर्बलता है कि जब एक माँ समझती है कि उसके जीवन का इसके अतिरिक्त और कोई अवलम्ब नहीं कि हवा के झोंके के साथ उड़ जाये......इस जगत से उठ जाये! सच, ऐसा है, यह क्षणिक और सान्दिग्ध जीवन! फिर भी वह नारी अपने दुर्दिन को भूलती है । छाती के नीचे कष्ट और पीड़ा देते हुए फोड़े की वेदना को शान्त करने का प्रयत्न करती है,—हाय! बेचारी नारी! भला उसे क्या अधिकार है कि एक बच्चे का प्रसव करे । उस शिशु को इस जटिल संसार में लाये । भला वह क्यों प्रसव वेदना का अनुभव करे!

तब भी अनन्त के मन में बात उठती—एक नारी माँ बनना चाहती है। वह अपनी इस सौगात को जीवित देखना पसन्द करती है। नारी पत्नी हो, नारी माँ हो......इसी हेतु तो वह अपना विसर्जन करती है...... बेचारी!

जैसे अनन्त के मन में जलन पैदा होती। उसका दम घुटता। वह बरबस ही कराहता। उसे, लगता कि समूचे समाज में आग जल उठी है। उसमें नारी जल रही है, आदमी जल रहा है!

एक दिन जब वह अपने अन्तर में इसी प्रकार की बातें लिये था, तब कमरे के द्वार पर एकादशी आकर खड़ी हुई। देखते ही अनन्त चौंक गया। जैसे वह कायर बनकर बोल पड़ा—'आओ, एकादशी! आओ!'

एकादशी के मन में बात आई कि अनन्त किसी बात पर टिका है। कुछ सोच रहा है। वह कमरे में आगे बढ़ कुर्सी पर बैठ गयी।

उसी समय अनन्त बोला—मैं एक अजीब-सी बात पर विचार कर रहा था। उसी में उलझा था।'

एकादशी ने सहज भाव से कहा—'क्या.........किस बात पर?

'नहीं, नहीं, यह बात अजूबा नहीं, एकादशी! अब तुम आई हो, तो समझ गया कि स्त्री का रूप ही यह है! नारी की माँग ही यह है! नारी मनोरम हो, माँ हो, यही तो वह चाहती है।'

विस्मय के साथ, एकादशी ने अनन्त की ओर देखा! जैसे उसे अनन्त पर तरस आया कि यह भी अजीब आदमी है। क्या सोचता है। क्या करता है। जो बात देर की आई है, उसे आज कहता है। अब अनुभव करने लगा है। वह बोली—'तुम जिस बात को इतना तूल देते हो, भारी मानते हो, उसे तो घर की कहारिन समिया की माँ बता देगी। वह सुगमता से तुम्हें माँ का अर्थ समझा देती। वह कई बच्चों को

माँहै।'

बात सुनकर अनन्त अपने में लजा गया। फिर वह एकादशी से जो कुछ कहने चला था, उसे नहीं कह पाया। उसने देखा कि एकादशी मुस्करा रही है। हँसना चाहती है।

किन्तु उसी समय एकादशी बोली— पर तुम्हारी उलझन क्या है? यह रात-दिन का सोचना क्या अच्छा है! इससे तो स्वास्थ्य बिगड़ता है।

अनन्त ने बात सुन ली, पर मत नहीं दिया। जैसे उसके पास कहने को कुछ न था।

एकादशी बोली—'तुम तो ईश्वर-भक्त हो। उस पर भरोसा करने वाले हो। फिर परेशान क्यों?' वह हँसी और बोली—'तुम तो कहते थे न, कि अपनी समस्याएँ, अपना जीवन सब भगवान का है। उसी की प्रेरणा पर चालित है। वही दिशाएँ देता है, चलाता है।'

अनन्त बोला—एकादशी, यह मानव बड़ा दुर्बल है। यह अपनी बुद्धि का दुरुपयोग भी करता है। तिल का ताड़ बनाता है।'

एकादशी ने कहा—'यह बुरा है। बोलो, क्या यह अच्छा है?'

अनन्त गम्भीर बन गया। उसने कहा—'यह आदमी अनेक रंग बदलता है। अजीब बात है कि धन पाते ही, कल का निर्धन आज का भेड़िया बन जाता है। जो त्रास उसने पाया, वह दूसरों को देने लगता है। मैंने समझा कि परिस्थिति आदमी का निर्माण करती है। देवता को राक्षस बना देती है.......'

जैसे खिझ कर एकादशी बोली—'आखिर आदमी देवता ही क्यों ......जानवर क्यों! इसे केवल 'आदमी' रहना चाहिये।'

तुरन्त ही अनन्त बोला—'यह नहीं होगा—हो नहीं सकता,

एकादशी ! आदमी परिवर्तन चाहता है। यह अपनी स्थिति से सन्तुष्ट नहीं होता । वर्तमान को भूल, भविष्य की ओर देखता है।'

एकादशी बोली—'तो आदमी असन्तोषी है । मूर्ख है !'

उदास भाव में अनन्त बोला—'हाँ एकादशी ! यह आदमी पीछे की ओर नहीं देखता, आगे देखता है । वैसे मैं अनुभव करता हूँ कि हमारे पुरखे प्रसन्न थे । वे कुछ अंश में आदमी थे । आज का विज्ञान नये विश्व का रचना कर रहा है । भगवान को भूल कर वह बुद्धि के कौशल की प्रशंसा करने में लगा है । यौगिक चमत्कारों का कोई महत्व नहीं रहा । भौतिक तत्वों को माना जा रहा है। मनुष्य प्रकृति पर विजय पाना चाहता है । उससे होड़ लगा रहा है ।'

मानो व्यस्त बनकर एकादशी बोली—'यह असम्भव है। कठिन है।

अनन्त बोला—'हमारे पुरखे अरक्षित थे । वे हिंस्र पशुओं से भी रक्षा नहीं कर पाते थे । पर आज तो यह अवस्था है कि आदमी ही आदमी का खून कर रहा है, उसे मारता है।'

एकाएक एकादशी प्रस्तुत वार्त्ता से ऊब गयी। उसे लगा कि यह अनन्त केवल यही सोचता है, देखता है। तद्नुरूप उसने उठते हुए कहा—'तुम्हारा एक यही राग है। इसी पाठ को रट लिया है। मैं कहती हूँ इस जगत में सभी कुछ है, देखा जा सकता है।'

जैसे चौंककर अनन्त बोला—'कहाँ जा रही हो ? क्या बाहर ?'

'मुझे काम है । मुन्शी का हिसाब देखना है।' कहते हुए एकादशी चली गयी।

तब अनन्त भी उठ गया। वह कमरे की खिड़की पर खड़े होकर दूर जङ्गल की ओर देखने लगा। उसे लगा कि जो खेत और पेड़ उसने पहले भी अनेक बार देखे, उनमें अब भी नयापन था, जिसे वह अभी नहीं देख

पाया था······और वह अभी एकादशी को भी नहीं समझ पाया था······

: १३ :

इस प्रकार उस समय अनन्त के मन की अवस्था अच्छी नहीं थी। वह कभी खिड़की पर खड़ा होता—कभी कमरे में घूमने लगता। तभी द्वार पर जाकर दादा ने पुकारा—'अनन्त भैया—'

अनन्त चौंक गया। दादा की ओर देखने लगा।

पास आकर दादा ने कहा—'किस बिचार में हो? किसी गहरी बात में?'

अनन्त बोला—'मैं बाहर जाना चाहता हूँ। एकादशी कहाँ है?'

'मुन्शी के पास।' दादा ने कहा—'और तुम ऐसी धूप में जाओगे? कितनी दूर जाओगे?'

सुनकर अनन्त दादा के समक्ष खड़ा हो गया। वह उसी की ओर क्षण भर देखकर बोला—'यह अनन्त तो पहिला ही अनन्त रहना चाहता है। इसे वही रहने दो। धूप, जाड़ा अमीरों और सुकुमार आदमियों के लिये हैं, मेरे लिये नहीं।'

दादा ने बात को आगे नहीं बढ़ाया। वह जिसलिये अनन्त के पास आया था, उसी बात को लेकर बोला--'दिखता है, जब बिटिया तुम्हारे पास से गयी है उसे गुस्सा आया है। मुन्शी को डाँट रही है। कहती है, सुनील को

क्यों रुपया दिया"""...फूआ को क्यों""""?'

'कितना रुपया दिया?' अनन्त ने पूछा।

दादा बोला—'कई हजार! पैसा पानी की तरह बहया गया। उसे अपना नहीं समझा गया।'

'तो मुन्शी ने बुरा किया। उसने क्यों बिना आज्ञा लिये दिया? उसे एकादशी से पूछना चाहिये था।'

दादा ने कहा—'न, भैया मुन्शी निर्दोष है। वह बिना आज्ञा लिये कुछ नहीं करता। किसी को भी एक पैसा नहीं देता। और एकादशी ठहरी मालकिन, जो कहे और भूल जाये! भला इसे कौन कहे! वह तो क्षण में सख्त""""क्षण में मुलायम! जब किसी पर नाराज हो, तो बस जैसे वह कोई नहीं! और प्रसन्न हो, तो सभी कुछ वार दे,—उसे निहाल कर दे। अभी उस दिन पण्डित रामदीन को निकाल दिया, उसका हिसाब करवा दिया। और फिर दूसरे ही दिन उसे बुलवाया और रख लिया। जब सुना कि उसकी लड़की का विवाह है, तो बिना माँगे बिना उसके कहे ही, दो सौ रुपये दे दिये—तनख्वाह अलग! बिटिया जब झुँझलाती है, किसी बात को मन में लिये रहती है, तो वह गुस्सा नौकरों पर उतारती है।'

अनन्त मौन था। वह कमरे के आदमकद शीशे की ओर देख रहा था। वैसे उसका ध्यान दादा की बात पर था। उसे लगा कि धनिक जिस प्रकार के होते हैं, एकादशी भी वैसी ही है,—चंचल और अधीर! किसी को पामाल कर दे"""""किसी का नाश कर दे!

दादा ने कहा—'फूआ सुनील को तो साथ लाई, पर जब गयी, तब बहुत सा रुपया बटोर कर ले गयी। सुना है न तुमने, सुनील उसका सन्बन्धी है। नातेदार है। कहते हुए दादा दूसरी ओर चला गया। वह जाता

हुआ बोला—'आज न जाना,—सच, नहीं !'

दादा के जाने के बाद भी अनन्त पूर्ववत् खड़ा रहा। वह एक दूसरे लाल शीशे की गहराई को देखने लगा और मन में बोला, मुझे यहाँ नहीं रहना चाहिये। यह दासता है। एकादशी के विपरीत नहीं चला जा सकता। यहाँ मेरा अस्तित्व नहीं रह सकता।

अनन्त अधीर बन गया। उसी अवस्था में बोला—एकादशी और है, मैं और ! दोनों में अन्तर है। दूरी है। मैं भिखारी हूँ, वह रानी ! कई गाँवों की स्वामिनी है। यह तो संयोग की बात है कि वह मुझसे स्नेह करती है। जिसका धागा कमजोर है। कभी भी टूट सकता है। इसमें सिद्धान्त नहीं······व्यावहारिकता भी नहीं। दया, दया है। उसमें छोटाई है। कभी भी मिट सकती है।

अनन्त कमरे से बाहर चल दिया। वह सीधे एकादशी के पास जाकर बैठ गया। एकादशी मुन्शी का बही-खाता देखने में लगी थी। उसने अनन्त की ओर नहीं देखा। वह कार्य में व्यस्त थी, सिर से धोती खिसक कर नीचे जमीन पर गिरी थी। एकादशी के मुँह पर पसीना आ गया था, उससे माथे पर आये सिर के बाल भी भींग गये थे। वे बाल हवा का झोंका खाकर हिलते थे, मुँह पर जाते थे। यह सब अनन्त को अच्छा लगा। तभी उसने कहा—'एकादशी, उठो, अब खाने की सुध लो।'

एकादशीने कहा—'तुम खाओ। जाओ, बन गया होगा।'

'तुम भी उठो। यह बही-खाते का समय नहीं है।' कहते हुए अनन्त ने उसके सामने से बही को खींच लिया।

व्यस्त होकर एकादशी बोली—'जरूरी काम था। यह जमा देखना था। इन मुन्शी महाराज ने सभी कुछ किया। जिसने जो माँगा, उसे

दिया।' यह कहते हुए वह मुन्शी से बोली—'यह हिसाब मुझे एक कागज पर उतार दीजिये। आपने जो किया, अच्छा किया!' फिर उसने अनन्त से कहा—'कुछ सुना तुमने, इन मुन्शी जी की कृपा से मैंने कई हजार रुपये का चपत खाया।

उस समय अनन्त नहीं चाहता था कि वह मुन्शी के सामने ही एकादशी से कुछ कहे। किन्तु जब बात चली, तो वह बोला—मुन्शी ने जो कुछ दिया, वह तुम्हारे आदेश पर दिया होगा।'

बलात् एकादशी ने अनन्त की ओर देखा। वह जरा खड़ी हो गयी और फिर जाने लगी। अनन्त भी चल दिया। घर में आते हुए उसने कहा—रुपये का महत्व मैं भी समझता हूँ। इसका लालच सभी को सताता है। फूआ और सुनील सरीखे मेहमान तुम्हारे यहाँ बराबर आते रहे, तो रुपया क्या, यह विशाल भवन भी बिक जायगा।'

एकादशी ने कहा—'इस जमींदारी ने मुझे पागल बना दिया।'

अनन्त ने हँस कर कहा—'यह भी कुछ ही दिनों का तमाशा है। देश में परिवर्तन आरम्भ हो गया है।'

एकादशी बोली—'वह अच्छा होगा। जमींदारी समाप्त हो जानी चाहिये।'

उस समय अनन्त को लगा कि सचमुच यह एकादशी खिन्न है। इसका साँवला और सलोना रूप सिकुड़ कर सकुचा गया हैं। उस पर वेदना का साया पड़ा है। यह देख अनन्त ममता से भर गया! वह स्वतः ही आकुल और व्यग्र बन गया। वह एकादशी की दयनीय स्थिति में डूब गया। उसने कहा—'तो इसमें चिन्ता क्या है? यह तुम्हें नहीं शोभता। ईश्वर के आशीष को पाकर तुम एक सुन्दर और सुकोमल नारी बनी हो, अपने हृदय में ममता ली हो, तब भला तुमने क्यों विवाह

की बात को भुला दिया। यह क्या उचित हुआ कि सुनील आया और लौट गया? तुम्हारी फूआ के पास भी शुभ भावना थी। ऐसे तुम्हें कब तक अकेलापन रुचेगा? यह जीवन तो जड़ बन जायगा·······पत्थर! मैंने देखा कि सुनील चतुर था, दुनियादार था।' यह कहते हुए अनन्त ने बाहर बगीचे की ओर देखा जिसमें जूही, चमेली और चम्पा के फूल खिल हुए थे। उसकी खुशबू वहाँ तक आ रही थी। अनन्त ने उसे अनुभव किया। फिर उसने एकादशी से कहा--'एकादशी, तुम भी सुगन्ध भरी जूही और चमेली का फूल हो। पर तुम परेशान हो। उद्विग्न हो। मैंने देखा कि तुम इस अनन्त के लिये भी अपना सर्वस्व दे सकती हो। पूर्ण समर्पित हो। भला कितनी उदार हो तुम! कितनी सरल! पर मैं तुम्हें क्या दूँ···तुम मुझसे क्या पाना चाहती हो, एकादशी! सच, बताओ। मैं आँख मूँद कर अपने को तुम्हारे चरणों पर डाल दूँगा······मैं स्वर्ग लेने की अपेक्षा तुम्हें पाना अधिक पसन्द करूँगा। और यह तुमने देखा कि मेरे राग का स्वर क्या है······· गत क्या है? मैंने तुमसे यह भी कहा, जाने मेरे किस संस्कार की बात है, कि मेरे हृदय में कष्ट है, पीड़ा है। मैंने बचपन से देखा है कि इस रास्ते पर सुख नहीं·· प्रमाद है, वासना-जन्य इच्छाओं की पेट-पूर्ति है। अभी तो हम दोनों अलग हैं, पर जानती हो, गाँव के लोग क्या कहने लगे हैं? कहते हैं—अनन्त ने जमींदार की बेटी को ठग लिया···सीधा-सादा अनन्त डाकू और छलिया बन गया····अतः हे एकादशी! तुम भी अपने विशाल हृदय में मानव की पीड़ा भर लो। दीन-मानव को छिपा लो। कर सको, तो जीवन के इस महान अनुष्ठान में अपना योग अर्पित कर दो। जायदाद जाये, तो जाने दो, यौवन जाये, तो जाने दो। यह जीवन जाये, तो जाने दो। तुम सुगन्धमयी वायु बन कर इस जगत के गगन-

मण्डल पर छा जाओ। धूँआ की तरह फैल जाओ, मेरी रानी!' यह कहते हुये अनन्त एकादशी की ओर झुक गया। उसने उसके दोनों कन्धे पकड़ लिये और उसकी साँसों पर अपनी साँसें डालता हुआ, झटके के साथ उसके कन्धे पर अपना मुँह रख कर खड़ा होगया। उसी अवस्था में वह बोला—'जो मेरी माँ ने नहीं किया, वह तुमने मेरे लिये किया। मुझे जीवन दिया। मुझे अपना उच्चतम ममत्व प्रदान किया।'

उस समय एकादशी स्वयं अनन्त के अतिरेक पर चकित थी। वह आगे क्या करेगा, क्या कहेगा, जैसे वह सहज भाव से उसकी कल्पना करने लगी। कुछ सकुचा गयी। लाल बन गयी।

अनन्त बोला—'मुन्शी वृद्ध है। विश्वसनीय है। तुम्हारे पिता के समान है। तुम्हें उसका सम्मान करना शोभता है।'

इतना सुनने के साथ बरवस ही एकादशी के मन में एक बात उठी। अजीब बात है। यह अनन्त उस सुनील की प्रशंसा करता है, उसे मेरे लिये उपयुक्त पाता है, पर वह था कि एक दिन सीधे मुँह इस अनन्त से नहीं बोल पाया था···निरा ईर्षालु और स्वार्थी था।

और तभी उसने सुना, अनन्त कह रहा था—'एकादशी, भरोसा करना, मैं तेरा हूँ, दूसरा नहीं बनूँगा। पर दिखता यह है, तेरे अनुरूप न हो सकूँगा।'

एकादशी बोली—'तुम जो कुछ हो, वही रहो। इसके अतिरिक्त कुछ मुझे भी अच्छा न लग सकेगा।'

: १४ :

दूसरे दिन के प्रातः में जब अनन्त किसी दूसरे गाँव जाने के लिये तैयार हुआ, अपने झोले में किताबें रखने लगा, तब उसी समय एकादशी वहाँ आयी और बोली—'मैंने ड्राइवर को बुलाया है, वह तुम्हें पहुँचा आयेगा।'

यह सुनते ही अनन्त विस्मय के साथ मुस्कराया और बोला—मुझे ड्राइवर कहाँ-कहाँ पहुँचायेगा? मैं बैठने नहीं जा रहा हूँ। काम करने जा रहा हूँ; जो बोल नहीं सकते, अपनी पीड़ा का बखान नहीं कर सकते, मैं उन्हींकी दुर्बल वाणी को चारों ओर प्रसारित करूँगा। ऐसे समाज के मध्य मोटर ले जाना क्या मेरे लिये शोभनीय रहेगा? मैं अपना तमाशा नहीं बनाऊँगा। यों तो अपने को स्वतः ही बड़ा आदमी सिद्ध करूँगा।'

एकादशी बोली—'तो पैदल जाओगे? कब आओगे?

'मैं जल्दी आऊँगा, कार्यवश रुका; तो तुम्हें सूचना दूँगा।' कहते हुये अनन्त ने कन्धे पर झोला डाल लिया और हाथ में डण्डा ले लिया।

आग्रह के स्वर में एकादशी ने कहा—'इसी सप्ताह लौट आना।'

'अच्छा, अच्छा।' अनन्त चलने के लिये उद्यत हो गया। वह एकादशी की ओर देख कर मुस्कराया।

उदास बन कर एकादशी बोली—'अब मन नहीं लगेगा। अकेले में उचाट सा रहेगा।'

'मैं जल्दी आऊँगा, बहुत जल्दी।' कहते हुये अनन्त द्वार की ओर बढ़ गया।

उसी समय दादा ने आकर कहा—'अनन्त भैया, जल्दी लौटना। भूल न जाना।'

'अरे नहीं, दादा! मैं क्या तुम्हें भूल सकूँगा। एकादशी का ध्यान सदा रहेगा।'

अनन्त चला गया। वह उसी दिन की सन्ध्या तक गन्तव्य स्थान पर पहुँच गया। उसने जाकर देखा कि किसानों की अवस्था गम्भीर तथा असहनीय है, उनकी जमीनें बहुत सस्ते दामों पर बेची जा रही हैं। वहाँ का जमींदार सरकार का आश्रय लेकर एक बड़े कारखाने का निर्माण कर रहा है। वह चतुर है। समय की गति को देखता है। उसने जहाँ एक बड़े फार्म का निर्माण किया, वहाँ अपनी जमीन में कारखाना भी स्थापित कर रहा है। किसानों की धड़ाधड़ बेदखलियाँ हो रही हैं। फलस्वरूप किसान भूख, पीड़ा और अपमान के बोझ से मरे जा रहे हैं। उनकी पुकार कहीं नहीं सुनी जा रही है।

अनन्त गाँव-गाँव घूमा। उसने प्रचार किया। किसानों से कहा—जमीन मत दो, सत्याग्रह करो, जेल जाओ। इसका फल यह हुआ कि अनन्त कुछ आदमियों के साथ गिरफ्तार हो गया। उस पर मुकदमा चला। जमींदार की ओर से यह सिद्ध किया गया कि उसने मजदूर और किसानों को भड़काया है। अनन्त छः मास का कारावास-दण्ड पा गया।

यह समाचार एकादशी के पास भी पहुँचा। सुनते ही उसका माथा ठनक गया। उस समय दादा सामने था, उसी को लक्ष्य कर वह बोली—'यह इन्सान, इन्सान नहीं, राक्षस है। अपना स्वार्थ देखता है। यह जगत क्या दूसरा बन सकेगा?'

दादा ने कहा—'बिटिया, अनन्त को सजा कराने का काम सुनील का है। वह जमींदार की फैक्टरी का मैनेजर है।'

बात सुन कर एकादशी ने अपना मत नहीं दिया। जैसे उसका श्वाँस

घुट गया। अन्तर में जहरीला धुआँ छा गया।

किन्तु उसी दिन जब दिन के ढलाव पर सुनील वहाँ आया, तब एकादशी ने एकाएक उससे कुछ नहीं कहा। वह मोटर में आया था। पूरा साहब बहादुर था। कमरे में आते ही उसने अपना हैट उतार कर मेज पर रख दिया और जेब से सिगरेट का पैकेट निकाल कर एक सिगरेट सुलगाता हुआ बोला—'तुम्हारे पास अनन्त का समाचार आया होगा। समझता हूँ तुम्हें दुःख भी हुआ होगा। तुमने यह भी सुना होगा कि महोदपुर का जमींदार एक बड़ी फैक्टरी का निर्माण कर रहा है। उसने मुझे अपना मैनेजर बनाया है। उसी फैक्टरी के मजदूरों को अनन्त ने भड़काया। काम रुक गया। मैंने कहा भी अरे भाई, यह सब नहीं चलेगा। सभी के अपने अपने स्वार्थ हैं। जब जमींदार की अपनी जमीन है, तब वह लेगा। जब उसने लाखों रुपया लगाया है, तब उन मजदूरों से काम भी लेगा। वह अपनी शक्ति के अनुसार वेतन देगा। तुम मालिक और मजदूर के बीच में मत पड़ो। पर अनन्त नहीं माना। वह आदर्श और साम्य की बात करता रहा। जैसे इस जमीन पर स्वर्ग लाने की कल्पना करने लगा। वह अपने समान सभी को साधु देखना चाहता है। भला इस प्रकार क्या दुनिया का काम चलता है? अपनी विरक्ति के साथ वह सभी को विरक्त देखना पसन्द करता है। मैं कहता हूँ जब तुम्हारे किसान जमीन का लगान नहीं देंगे, तो तुम्हें कैसा लगेगा? क्या कष्ट नहीं होगा?

सुनील की इस लम्बी बात को सुन कर एकादशी ने दो-टूक शब्दों में कहा—'धनवान सदा शोषण करता आया है। मुझे भी क्या जमींदार का पद शोभता है? देखती हूँ एक दिन यह पाप सभी के सिर से उतर जायेगा। इन जमींदारों को ले डूबेगा।'

जैसे साँस रोक कर सुनील ने एकादशी की बात सुनी। उसे ऐसी ही

आशा थी। तुरन्त ही वह मुस्कराया और बोला—'अनन्त की बातों का प्रभाव तुम पर है। पर इनका वास्तविकता से कहाँ मेल है ?'

तभी एकादशी ने लाल बन कर कहा—'अनन्त झूठ नहीं कहता। वह सत्य का उद्‌घोष करता है। यह जागरण का युग है, सुनील बाबू ! प्रत्येक व्यक्ति अपना अधिकार माँग रहा है। सदियों से पीड़ित इन्सान की आत्मा चीत्कार कर रही है। देखते नहीं, चारों ओर बवण्डर उठा है। शोर हो रहा है !'

दादा चाय का सामान ले आया। कुछ मिठाई और फल भी लाया। एकादशी ने चाय बनायी और सुनील बाबू के सामने रखी। उसी समय वह बोली—'अनन्त कहता था कि इस प्रथा ने आदमी को आदमी नहीं रहने दिया, पत्थर बना दिया। भला कितना बीभत्स और हृदयहीन दृश्य है यह ! कितनी वेदनापूर्ण ! लोग मोटरों में घूमते हैं, बंगलों में रहते हैं, और मौज उड़ाते हैं, पर यहाँ एक बड़ा समुदाय भी है कि जो रहने के लिये झोपड़ी नहीं पाता। तन ढाँकने के लिये चिथड़ा नहीं······पेट के लिये रोटी नहीं···सच, बड़ा अमानुषीय व्यवहार है यह ! विशाल अन्तर ! यही कहने पर तो अनन्त जेल गया।'

चाय पीते हुये सुनील बोला—'एकादशी, समाज के आदर्श कभी व्यावहारिक नहीं बने। वे सुने जाते हैं, लिखे जाते हैं। आज के निर्धन जब कल धनिक बनेंगे, तो वे भी इसी छुरी से आदमी का पेट फोड़ेंगे···· खून करेंगे।'

एकाएक विचलित बनकर एकादशी बोली—'तो धर्म की इन पोथियों को फाड़ दो। मन्दिर की प्रतिमाओं को तोड़ दो। आदमी कसाई है··· खूनी है।'

सुनील ने बात सुनी और ठहाका मारकर हँस दिया।

दिया० ८

उसी समय दादा ने आकर सुनील को बताया कि तुम्हारा ड्राइवर कहता है, रास्ता खराब है। दिन छिपने वाला है।

सुनते ही सुनील उठ गया। उसने हैट बगल में ले लिया। एकादशी की ओर देखकर बोला—'अच्छा, अब जाऊँगा। फिर कभी आऊँगा।'

एकादशी ने कहा—'आज ठहरिये।'

'आज नहीं।' सुनील बोला—'कुछ विशेष काम है, आज ही करने हैं।'

द्वार तक जाकर एकादशी ने कहा—'तो आइयेगा। मिलियेगा।'

मोटर में बैठते हुये सुनील बोला—'हाँ, हाँ, जरूर।'

सुनील चला गया। एकादशी कमरे में लौट गई। वहां जाकर वह अपने आप बोली—यह तो सत्य है, आज का निर्धन कल धनिक बनते ही शोषक की स्थिति अपनायेगा। वह स्वार्थी हो जायेगा।

उसी समय जब दादा कमरे में आया, तब उसे देखते ही एकादशी बोली—'क्यों दादा, सच बताना, यदि तुम्हारे पास धन आ जाये, तो क्या करोगे उसका?'

दादा एकाएक एकादशी की बात का अर्थ नहीं समझा। वह चकित बन कर देखने लगा। किन्तु एकादशी ने स्वयं कहा—'तब तो तुम खूब ठाट से रहोगे। मोटर में घूमोगे। बड़ा और भव्य महल बनवाओगे। क्यों दादा?'

दादा ने कहा—'तुम सुनील बाबू की बात सुनकर कह रही हो, बिटियारानी! उन्होंने यही कहना सीखा है। उन्हें यही सोहाता है। पर ऐसा यह दादा क्यों! सभी ऊँगलियाँ समान थोड़े ही होती हैं।'

किन्तु एकादशी मौन रह गई। वह गम्भीर बन गई।

दादा फिर बोला—'बिटिया, यह तो अपनी-अपनी रुचि की बात है—जिन्दगी को देखने की बात है! ऐसे अमीर भी हैं कि जो धन रहते

दयालु और गरीब-निवाज हैं। वे उस धन को सभी का मानते हैं···सुना नहीं, अनन्त कहता था कि इस जगत का सभी कुछ,—यह शरीर भी अपना नहीं है, जाति का है, अपने समाज और देश का है।'

बरबस एकादशी ने कहा—'हूँ।' और उससे आगे कुछ नहीं कहा गया।

: १५ :

सजा के छः मास अधिक नहीं थे, वे जल्दी ही पूरे हो गये। अनन्त जेल से छूट आया। वह सीधे एकादशी के गाँव में आ पहुँचा। उसी के यहाँ ठहरा। परन्तु दो दिन उस बड़े महल में रहकर, वह तीसरे दिन मन्दिरमें पहुँच गया। यह देख कुछ लोग चकित हो गये। वैसे इतना सभी को पता था कि इस बीच में सुनील बहुत बार वहाँ आया-गया। एकादशी भी उसके साथ कई बार बाहर गई। इसलिये सहज ही लोगों ने समझ लिया कि अब अनन्त और एकादशी का मेल नहीं मिल सकता। अनन्त और है···एकादशी और। दोनों में जमीन-आसमान का अन्तर है। हाँ, सुनील के लिये यह कहा जा सकता है। वह एक बड़े कारखाने का मैनेजर है। सरकार के बड़े अधिकारी वर्ग और धनिक वर्ग से उसका मेल-जोल है। अब वह स्वयं सम्पन्न है। सुना कि जमींदार के कारखाने में उसका हिस्सा भी था।

किन्तु फिर भी लोगों ने अनन्त से पूछा—'क्या बात है कि एकादशी के घर नहीं रहे? फिर यहाँ मन्दिर में आ गये।'

अनन्त ने कहा—'मेरी यही जगह है। यहाँ मन लगता है। शान्ति है। समीप ही नदी-तट है।'

पर बात ऐसी नहीं थी। सचाई यह थी कि उन दिनों अनन्त की प्रतिष्ठा भी बढ़ गई थी। नित्य ही लोग उसके पास आते और जाते थे। वह व्यस्त अधिक था। साथ ही उसने देखा कि एकादशी का दृष्टिकोण अपेक्षाकृत बदल गया है। उसके घर में ठाट भी पहिले से अधिक बढ़ गये हैं। उसका कमरा पूर्णरूप से सजा है। बड़े हाल में कुछ सोफे शहर से मँगाये गये हैं। और यह सब कदाचित सुनील की प्रेरणा पर हुआ है। निश्चय ही वह अब एकादशी के लिये सम्माननीय व्यक्ति है। फिर भी एकादशी ने जो पत्र अनन्त को जेल में लिखा, उसमें यही था, जेल से छूटते ही सीधे गाँव आना। एक बार जेल में जाकर भी एकादशी ने यही कहा था। किन्तु जब उसने एकादशी के राजसी ठाट देखे, भौतिक तत्वों के प्रति उसमें अधिक आकर्षण पाया, तो वह समझ गया कि बात सुनील की चलेगी, अनन्त का पुराना पाठ इस एकादशी को मान्य नहीं होगा। इसलिये वह स्वयं ही इस महल से निकल गया।

दादा ने जब एक दिन सुयोग पाया, तो एकादशी से बोला—'क्यों बिटिया, अनन्त भैया, मन्दिर में कैसे चले गये? क्या इस बड़े महल में उसके लिये स्थान नहीं रहा?'

एकादशी इस प्रकार की बात सुनने के लिये तैयार नहीं थी। वैसे समझती थी कि दादा कभी भी उससे ऐसा नहीं कहेगा। इसलिये, जब उसने बात सुनी, तो जैसे चिढ़ कर बोली—'अनन्त शून्यता चाहता है, उसे वही पसन्द है। वह यही करे! यही भोगे! अब मैं उसकी खुशामद नहीं करूँगी।'

यह सुनते ही दादा सन्न रह गया। वह अपनी बात कहकर पछ-

ताया। डर भी गया। वैसे उसे भी अनन्त का व्यवहार पसन्द नहीं था। एकादशी ने उसके लिये कितना त्याग किया, उसे दादा से अधिक और कौन जान सकता था। किन्तु बात यहाँ तक बढ़ आई है, इतनी कड़वी हो चली है, वह एकादशी के मन में इतनी गहरी उतर चुकी है, इसका उस वृद्ध दादा को भरोसा नहीं था।

फलस्वरूप, एक दिन दादा मन्दिर में पहुंचा। अनन्त उस समय देवता की पूजा कर, मन्दिर के द्वार पर खड़ा नदी की ओर देख रहा था। उसकी दोनों भौंहें चढ़ी थीं। दादा को देख वह मुस्कराया और पूछा—'कहो दादा, ऐकादशी अच्छी है? मैं तो कई दिन से उधर नहीं गया।'

दादा ने कहा—'हाँ, तुम उधर नहीं गये। कल सुनील बाबू आये। अभी ठहरे हैं। बिटिया के लिये जाने क्या-क्या खरीद लाये हैं। जब आते हैं, तो कोई न कोई तोहफा लाते हैं।'

सुनकर अनन्त हँस पड़ा। वह दादा की ओर देखने लगा।

दादा बोला—'क्यों भैया, तुम महल से कैसे उठ आये? कुछ बिटिया से कहा-सुनी हुई क्या? अब आते भी नहीं, ऐसे निर्मोही हो गये।'

अनन्त बोला—'न दादा! मैं उस दिन गया था। देर तक रहा। पर यह तो तुम जानते हो, हम दोनों विपरीत हैं। दिशा और हैं। मैं जब गया तो एकादशी बही-खाता देख रही थी, देखती रही। निदान मैं चला आया।'

'सो ही तो!' दादा ने कहा—'मैंने भी उस दिन समझा, दोनों जरूर कोई बात लिये हैं। भला बिटिया तुम्हें देख पाकर बही-खाता देखती··· राम-राम कहो। तुम्हें देख कर तो वह सभी-कुछ भूल जाती। तुम मन्दिर में रहो बिटिया यह नहीं चाहती है।'

'तो वह क्या चाहती है?'

'तुम घर पर रहो—उसके पास रहो।'

सुनकर अनन्त फिर मुस्कराया। उसने बड़े भोलेपन के साथ दादा की ओर देखा और कहा—'दादा, तुम जैसा कुछ समझते हो, वैसा नहीं है। मैं मानता हूँ एकादशी मेरे प्रति दुर्भावना नहीं रख सकती, पर मुझे तो उसका ध्यान रखना है। मेरा यही कर्तव्य है। यह अच्छा है कि हम दूर-दूर रहें। मैं उस दिन इसी उद्देश्य से गया था। एकादशी को वस्तु-स्थिति से परिचित करना चाहता था। मैं अब शीघ्र इस गाँव से भी चला जाऊँगा। कहीं दूर रहूँगा।' बात सुनी तो उत्साहहीन बन कर दादा बोला—'जाने तुमसे कौन बोलता है। वह तुम से क्या चाहती है।'

अनन्त मन्द भाव से हँस दिया। वह सहृदय बनकर दादा की ओर देखने लगा।

दादा ने कहा—'देखता हूँ, तुम दूसरों की बात नहीं सुनते। मैं तो चाहता हूँ कि तुम और बिटिया एक साथ रहते……एक मन और एक प्राण बनते।'

बात सुनकर अनन्त जोर से हँस पड़ा। वह जैसे दादा की बात में खो गया। उसी समय वह गम्भीर बनकर बोला—'दादा, यह मत भूलो कि एकादशी एक जमींदार की बेटी है। वह जिसे सिर पर उठाती है, उसे जमीन पर भी फेंक सकती है। दम्भ और अहं उसके भी पास है। वह जिस आदमी को प्यार करती है, उसका तिरस्कार करना भी जानती है। भला ऐसे सन्दिग्ध वातावरण में मैं क्यों रहूँ? मैं केवल एकादशी से पाया हुआ स्नेह जीवित रखना चाहता हूँ। मुझपर उसके अनेक उपकार हैं। वे मुझे सदा स्मरण रहते हैं। तुम एकादशी से कहना, कि वह मेरे जीवन की ऐसी शीतल छाँह है जिसमें मैंने सुख और चैन पाया है।'

अनन्त अपनी बात कहते हुए नदी की ओर देखने लगा। उसका मुँह भी भारी हो गया। यह देख, जाने कितनी देर की रुकी हुई साँस छोड़कर दादा बोला—'काश, कि तुम एक होते !'

तुरन्त ही अनन्त बोला—'दादा, हम दोनों अब भी एक हैं। परिस्थिति जुदा है। एकादशी सदा मेरे अन्तर में समायी रहती है।'

किन्तु दादा ने फिर विनीत बनकर कहा—'अनन्त भैया, एकादशी से दूर मत रहो। उस पर अपना हाथ रखो। उसके पास पहुँचो। वह जीवन-सागर की गहराई में उतर रही है। सुनील मगरमच्छ बनकर उसे खींच रहा है। उसका नाश कर देने वाला है।'

यह सुनकर अनन्त मुस्कराया नहीं। वह बोला—'धैर्य रखो। एकादशी जिस प्रवाह में बह रही है, उससे निकल आयेगी। एकादशी दूर नहीं जायेगी। मैंने उसे समझा है। जानते तो हो कि मैं भी उसे प्यार करता हूँ। एकादशी मेरे जीवन का अवलम्ब तो है ही; आरम्भ भी है;—अन्त नहीं। वह सदा गंगा के जल की तरह तरंगित रहे, यही मेरी अभिलाषा है। मैंने अपने माँ-बाप खो दिये तो क्या, एकादशी को पा लिया है·······।'

: १६ :

सुनील की प्रेरणा पर एकादशी ने अपनी सालगिरह पर एक बड़ा आयोजन किया। निकट के अधिकारी वर्ग और सम्पन्न व्यक्तियों के अतिरिक्त कई सौ आदमियों को प्रीति-भोज दिया गया। इसके प्रबन्ध में सुनील बाबू का प्रमुख हाथ था।

परिणाम स्वरूप उस दिन एकादशी अधिक व्यस्त थी। घर के बाहर और अन्दर सभी कोई किसी-न-किसी काम में लगे थे। घर के बाहर दीवानखाने की खास सजावट की गयी थी। नगर से हलवाई बुलाये गये थे। प्रातः से ही मेहमान आने लगे। जिले का कलक्टर, तहसीलदार के अलावा अन्य कई विशिष्ट अधिकारी आ गये। सुनील बाबू के वे जमींदार बाबू भी आये जिनकी फैक्टरी में वह मैनेजर था। चारों ओर आदमी ही आदमी थे। एकादशी भी अधिक व्यस्त थी। कभी नौकरों को किसी काम के लिये आदेश देती, कभी फटकारती।

एकादशी को इस प्रकार देख सुनील ने कहा—'मैं हूँ। सब देख रहा हूँ। तुम शान्त बनो।'

एकादशी ने कहा—'देखो न, सुनील बाबू! मेहमान आने लगे हैं और यहाँ सभी कुछ अव्यवस्थित है। न बैठने का ढंग, न खानेका प्रबन्ध!'

सुनील बोला—'सब हो रहा है। तुम्हारे नौकर कामचोर हैं। मैं रहूँ, तो चार दिन में ठीक कर दूँ। कोई काम न करे, तो ठोकर मारकर निकाल दूँ। पर तुम परेशान न बनो। मुझ पर छोड़ दो। तुम मेहमानों के पास बैठो। लो, तुमने अभी स्नान भी नहीं किया। तुम कपड़े बदलो। मेरी लाई हुई साड़ी पहनना। तुम्हारे रंग के अनुरूप लाया हूँ। इस सालगिरह पर तुम्हें अनुपम देखना चाहता हूँ—सच!'

एकादशी हँस पड़ी, बोली—'तुम भी खूब हो, सुनील बाबू!'

सुनील बोला—'यह जीवन सजने के लिये है, हँसने के लिये।' यह कहते हुए वह दूसरी ओर चला गया।

जब एकादशी गुसलखाने की ओर स्नान करने जा रही थी तब दादा उसके पास आया।

एकादशी ने पूछा—'क्यों दादा, कोई काम है? कुछ कहना है?'

दादा ने अपनी बात लिये हुए दूसरी बात कही—'मेहमान आ गये हैं। दूसरे गाँव के ठाकुर भी आ गये हैं।'

एकादशी बोली—'उन सभी को बैठाओ, देखो सब ठीक हो। कुछ गलत न हो।'

अब दादा ने अपनी बात कहनी चाही। उसने फिर एकादशी की ओर देखा।

एकादशी बोली—'मैं गुसलखाने में जाती हूँ। बक्स से गुलाबी रंग की साड़ी निकाल लेना।'

'पर बिटिया.......'

'और क्या.......?'

'अनन्त भैया को नहीं बुलाया गया! उसको निमन्त्रण नहीं दिया!'

यह सुनते ही एकादशी का पारा चढ़ गया! उसने झल्लाकर कहा—'अनन्त जब न आये, तो क्या मैं पीछे-पीछे फिरूँ? वह अभिमानी है। आये तो! न आये तो! मैं बुलाने न जाऊँगी।'

दादा ने कहा—'उसे बुलाया भी तो नहीं गया, बिटिया रानी!'

एकादशी बोली—'यह मुन्शी और सुनील बाबू से पूछो। उनसे कहो।' कहते हुए उसने खटाक से गुसलखाने का दरवाजा बन्द कर लिया।

यह देख क्षणभर दादा हतप्रभ-सा खड़ा रहा। उसे लगा कि वह जैसे कल्पनाहीन स्वप्न देख रहा है। जो सुन्दर और सुहावना नहीं। वह एकादशी के कमरे में गया और बक्स में से ऊपर ही रखी बण्डल में बँधी लकदक करती हुई रेशमी साड़ी निकालने लगा। उसे मेज पर रखते हुए, वह सोचा, आज इस घर पर सभी आये, अनन्त नहीं आया। यह अच्छा नहीं हुआ। उसी समय उसकी निगाह एकादशी और अनन्त के एक सम्मिलित फोटो पर गयी। आगे बढ़कर उसे उठा लिया। देखने लगा।

दादा अपने-आप बोला—अहा ! कैसी सुहावनी जोड़ी है। उस चित्र में अनन्त मुस्करा रहा है। दादा स्वतः आत्मविभोर बन गया। वह भूल गया कि एकादशी कमरे में आ गई है। किन्तु वह दादा को देखती ही बोली—'दादा, पागल न बनो। काम करो। स्वप्नों की दुनिया में कुछ नहीं रखा है। असलियत को समझो।'

सुनते ही दादा बोला—'जब मैं इस जोड़ी को देखता हूँ, तब पागल बन जाता हूँ, बिटिया। देख तो, यह गाढ़े की मिर्जई और घूटनों तक की धोती पहने अनन्त कैसा लग रहा है·······खूब फब रहा है! मुस्करा रहा है।'

एकादशी ने कहा—'लाओ, साड़ी दो।'

दादा ने चित्र रख दिया। साड़ी उठाकर एकादशी को थमा दी और बाहर चला गया।

किन्तु जिस समय दादा अनन्त के प्रति इतना संलग्न और मोहित बना हुआ था, उस समय स्वयं अनन्त मन्दिर के पास ही एक चमार के घर बैठा हुआ उसकी लड़की के कुष्ठ के जख्मों को धो रहा था। लड़की मातृहीन थी। पिता वृद्ध और अन्धा था। अभी कुछ दिन हुए कि उसके लड़की को कुष्ठ के रोग ने पकड़ लिया। वृद्ध पिता चमारों के टोले से भी निकाल दिया गया था। लोगों ने उस पर दया नहीं दिखाई। अपनी लड़की के प्रति निरन्तर की उपेक्षाजनित भावना को पा, वह अपना घर छोड़ने को बाध्य हो गया। तब वह नदी किनारे के पास ही एक टूटे हुए घर में जा बसा। वृद्ध चमार जानता था कि आज जमींदार के घर दावत है। बाहर से बड़े-बड़े आदमी आये हैं।

जब अनन्त अपने निश्चित समय पर पहुँचा और लड़की के पास बैठकर दवाओं के पानी से उसकी जख्म को धोने लगा, तो बलात् वृद्ध ने

पूछा—'क्यों भैया, तुम जमींदार के यहाँ नहीं गये ? तुम तो बुलाये गये होगे ?'

उस समय तक अनन्त सचमुच ही अनभिज्ञ था कि आज एकादशी के यहाँ भोज है। बड़ा आयोजन है। क्योंकि वह प्रातः से बाहर था। दूसरे गाँव गया था। इसीसे उसने साश्चर्य पूछा—'क्यों जमींदार के घर क्या है ?'

वृद्ध ने कहा—'तुम्हें पता भी नहीं ! जमींदार की बेटी की आज साल-गिरह है। बड़े-बड़े आदमियों की दावत है। इस रास्ते से बहुत सी मोटरें आई-गयी हैं।'

अनन्तने मुस्करा दिया। बोला—'तो मैं कौन बड़ा आदमी हूँ, भाई !'

वृद्ध बोला—'गाँव के सभी लोग जायेंगे, तुम नहीं ?'

'तुम भी जाओगे ?' अनन्त ने पूछा।

'भला हमारी क्या बात ! चमार और नीच——'

यह सुनकर अनन्त एकाएक कुछ बोल न पाया। उसने अनुभव किया कि जैसे वृद्ध ने बड़ी वेदना से अपनी बात कही है। वह उसके हृदय की है। जिसमें उसकी आत्मा बोल रही है। वह बोला—'चमार भी आदमी हैं। परमात्मा को मानते हैं;—क्यों न राधा !' कहते हुए उसने लड़की की ओर देखा। इसके साथ ही लड़की ने सिर हिलाकर उसकी बात का समर्थन कर दिया। साथ ही अनन्त को देख वह मुस्करा पड़ी।

आलोड़ के साथ अनन्त बोला—'तू बड़ी चतुर है। बड़ी भली है, राधा !'

यह सुनकर राधा लजा गयी। वह कपड़े में मुँह छिपाने लगी।

अनन्त ने कहा—'और बता तो, अब कैसी है तू ? कुछ चला-

फिरा कर।'

वृद्ध बोला—'भैया, तुम इसके और मेरे ऊपर बड़ा ही ऐहसान कर रहे हो। तुम······'

उसे रोककर अनन्त बोला—'यह व्यर्थ की बात छोड़ो। क्या हुआ, तुमने न किया, मैंने कर दिया। मैं दिन भर पड़ा करता ही क्या हूँ। यह भी अपना काम है।'

'ऐसा सब नहीं सोचते, भैया!'

अनन्त ने इस बात का उत्तर नहीं दिया। वह लड़की के जख्मों पर पट्टी बाँध कर खड़ा हो गया।

वृद्ध ने पूछा—'अब इसका कब तक इलाज करोगे, भैया?'

अनन्त बोला—'बस, इस महीने तक।' कहते हुए वह नदी की ओर चल दिया। वहाँ जाकर बैठ गया। तभी उसके कानों में बैण्ड का स्वर पड़ा। उसे मोटरों के भोंपुओं का नाद भी सुनाई दिया।

अनन्त नदी के दूसरे किनारे की ओर देखने लगा। उसी ओर देखते हुए उसने अपने आप कहा, एकादशी के यहाँ जो मेहमान आयेंगे, वे सभी कुछ-न-कुछ भेंट लायेंगे। मैं जाऊँ, तो क्या है मेरे पास! कुछ कविताएँ, कुछ लेख·········यह क्या उस समाज में चलेगा?"

अनन्त को याद आया कि परसाल ही, आज के दिन उसने एकादशी को एक कविता लिख कर दी थी। जिसके उत्तर में एकादशी ने जाने कितनी गहरी अनुभूति के साथ सौगन्ध खाई थी कि यह एकादशी तुमसे दूर नहीं रह सकेगी·········तुम्हें भी दूर नहीं होने देगी····'

उस समय अनन्तने जल की धारा को देखते हुए कहा—और आज···· एक वर्ष के बाद! फिर वह मुस्कराया। जैसे उसे सभी कुछ परिवर्तनशील लगने लगा।

उस समय गाँव का एक व्यक्ति उधर से निकला। अनन्त ने देखा कि वह नये कपड़े पहने हुए था। उसने अनन्त के पास आते ही कहा—'तुम यहाँ बैठे हो! जमींदार के घर नहीं गये? आओ, चलो, मैं वहीं जा रहा हूँ।'

अनन्त ने रूखे स्वर से कह दिया—'हाँ, हाँ, तुम चलो।'

'क्या, तुम नहीं?'

'हाँ, मैं भी आऊँगा।'

किसान चला गया। उसके बाद ही अनन्त जाने कैसी अर्थ-हीन दृष्टि से नदी के जल की ओर देखकर अपने आप बोला—आज मुझे यहाँ नहीं रहना था। अन्यत्र चले जाना चाहिये था। यह कहते हुए वह मौन बन गया। वह नदी पर दृष्टि डाले हुए ही अवाक् और मूँक बना हुआ अनायास ही अपने आप में खो गया।

तभी बैण्ड की ध्वनि की ओर उसका फिर ध्यान गया। उसकी भीनी और मीठी लय में अनन्त लीन हो गया! उसका मानस हर्ष से भर गया। वह उसी आनन्द में विभोर हो गया।

वह गाँव में होता तो देखता कि गाँव-का-गाँव जमींनदार के महल की ओर बढ़ा जा रहा है। कोई तमाशा देखने जा रहा है और कोई निमन्त्रण पाकर मिठाई-पूड़ी खाने पहुँच रहा है।

इस अवसर पर एकादशी की साज-सज्जा अनुपम थी। गुलाबी रंग की साड़ी पहिने वह भली लग रही थी। सिर का जूड़ा भी रेशमी फीते से बँधा था। उसमें भी जूही के फूलों का जूड़ा लगा था। दीवानखाने में बैठे मेहमानों की अगवानी स्वयं एकादशी कर रही थी। सुनील उसके साथ था। वह परिचय करा रहा था।

भोजन के बाद सभी अभ्यागतों ने अपनी भेंटें दी। सभी वस्तुएँ

एकादशी ने ग्रहण की। जब उसने सुनील द्वारा लाया हुआ शृंगारदान देखा, तो बोली—'इतना कीमती क्यों ले आये! तुमने बहुत खर्च किया!'

सुनील ने कहा—'तुम्हारे लिये मैं पैसों का मूल्य नहीं आँकता! तुम उससे बड़ी हो, अमूल्य हो। यह नुमायश से लाया था।'

यह सुन एकादशी आँखों से मुस्करायी। किंचित हँसी।

उसी समय गाँव के वृद्ध चौधरी ने एकादशी के पास आकर कहा—'बिटिया, अनन्त नहीं दीख पड़ता! क्या कहीं बाहर गया है?'

चौधरी गाँव का प्रतिष्ठित व्यक्ति था। वह एकादशी के पिता का मित्र था। उसकी बात सुनते ही, एकादशी ने सुनील की ओर देखा।

सुनील बोला—'अनन्त यहाँ नहीं होगा। और उसे बुलाता ही कौन! जो नित्य आता-जाता है, वह आज नहीं आया! शायद उसने सोचा होगा कि यहाँ पर आये हैं बड़े-बड़े हाकिम हुक्काम और अमीर लोग! यह उसे नहीं रुचेगा।' कहते हुए सुनील हँसा। उसी भाव में उसने फिर कहा—'अनन्त ठीक ही तो सोचता है। ऐसे लोगों से उसका सम्बन्ध नहीं हो सकता। उसका तो वही नपा-तुला वेश है,—सिर पर बिखरे हुए बाल, घुटने तक की धोती, गाढ़े की मिरजई, पैर नंगे, तो नंगे ही। यह सब यहाँ थोड़े ही शोभा देता। चौधरीजी! सभी लोग संन्यासी नहीं बन सकते!'

एकादशी मौन थी। किन्तु सुनील जिस चौधरी से कह रहा था उसकी आयु साठ वर्ष से ऊपर थी। उसने कहा—'यह तो तुम अपनी बात कहते हो, बाबू! अनन्त की नहीं। वह हर जगह शोभा पाता है। जिस बात को हम जीवन भर नहीं समझ पाये, उसे अनन्त समझता है। आज के दिन वह यहाँ न हो, वह न बुलाया गया हो, मुझे तो यह अच-

रज ही मालूम पड़ता है। उसके बगैर सभी कुछ अधूरा लगता है।'

एकादशी वहाँसे उठ गई। वह मेहमानों की तरफ चली गयी।

किन्तु चौधरी ने पास आये दादा से पूछा—'अनन्त कहां है?'

दादा ने कहा—'कल तक तो था। आज भी होगा।'

'यहाँ नहीं आया?'

'भला कैसे आता? बिटिया बुलाती तब तो?'

चौधरी ने पूछा—'एकादशी ने नहीं बुलाया? और यह सुनील बाबू कौन हैं?

दादा बोला—'इन्हीं की तो मेहरबानी है, चौधरी जी! कोई समय था, जब बिटिया अनन्त को मानती थी, पर अब नहीं....जाने क्यों नहीं?'

चौधरी ने कहा—'मैं समझ गया। अच्छा, देख तो, एकादशी कहाँ गई? मैं उसीसे बात करूँगा। मैं इस घर की लाज को जीते-जी नहीं मिटने दूँगा। एकादशी बच्ची है। अभी नासमझ है।'

दादा बोला—'बिटिया कमरे में गई है।'

यह सुनकर चौधरी उधरही बढ़ गया। जाकर देखा कि एकादशी कोच पर पड़ी थी। मानो थक गई थी। वह छत की कड़ियों की ओर देख रही थी। द्वार पर जाते ही चौधरी ने पुकारा—'एकादशी!'

'जी, ताऊजी!' एकादशी खड़ी हो गई।

चौधरी ने कहा—'मुझे लगा कि तुम मेरी बात पर खिन्न होकर यहाँ आ पड़ी हो। कैसी बात है कि बाहर मेहमान हैं और तुम यहाँ हो!' यह कहते हुये चौधरी ने साँस भरी और बोला—'बिटिया, मैं बहुत दिन से तुम्हारे पास नहीं आ सका। आज आया हूँ। देखता हूँ कि हमारी बिटिया अब बड़ी हो गई है। समझदार बन गई है। किन्तु

एकादशी, मैं यह देखकर अचरज में हूँ कि तुम्हारे इस शुभ दिन पर अनन्त नहीं आया है। उसके साथ तुम्हारा यह उचित व्यवहार नहीं। उसे बुलाना था। उसका सम्मान करना था। वह कोमल प्राणी है। वह पवित्र और निष्कलंक है। भला उसमें कोई भेद है? कोई छिपाव है? वह स्वार्थी नहीं। दम्भी नहीं। अपने जीवन में किसी को छल भी नहीं सकता। सुनील सरीखे व्यक्तियों की गोष्ठी तुम्हारी प्रतिष्ठा खो देगी। ऐसे व्यक्ति जीवन का सुख देखते हैं। अपने स्वार्थ का पेट भरते हैं। सुनहली चिड़िया को जाल में फँसाते हैं। उनका कोई ईमान नहीं···धर्म नहीं। देखो तो, तुम्हारे पूर्वज क्या थे? किन आशाओं पर तुम्हारा पालन-पोषण कर गये थे। पैसा पाकर तुम्हें दयावान और सहृदय बनना चाहिये। गरीब और निराश्रितों का आशीष पाना चाहिये। पर किया कुछ और। तुमने अमीरों और बड़े आदमियों को बुलाया। जो व्यर्थ गया। आज का दिन तुमने धार्मिक ढंग से नहीं मनाया। ये लोग खाना और हँसना चाहते हैं··· ····रोना नहीं···इन्सान की वेदना नहीं समझते·······'

एकादशी कुछ कहने चली थी कि चौधरी ने फिर कहा—'ये सुनील बाबू, अपने घर यह तमाशा करते, तो ठीक था। अनन्त तुम्हें ऐसी सीख न देता। वह ऐसा आदमी नहीं है। तुमने तो सुना होगा कि जिस तोता चमार की लड़की को उसका पिता भी नहीं छू पाता, उसे ही अनन्त नित्य जाकर देखता है। उसके जख्मों को धोता है। वह ऐसा आदमी है। भला तुमने कहीं और भी देखा ऐसा आदमी!'

एकादशी का सिर झुक गया। उसी अवस्था में उसने कहा—'अनन्त नहीं आना चाहता। वह यही पसन्द करता है।'

'तुम्हें भ्रम हो गया है बेटी!'

तभी सुनील द्वार पर आया। वह बोला—'तुम यहाँ हो, एकादशी। वह मजिस्ट्रेट साहब जाने को तैयार हैं·······वे जागीरदार साहब भी! आओ, मिल लो।'

यह सुनकर एकादशी खड़ी हो गई। वह चौधरी की ओर देखकर बोली—'मुझे आपका आदेश शिरोधार्य है, ताऊजी! मान्य है।'

चौधरी मुस्कराया। उसने अपने दाँतहीन मुँह से हँस दिया।

किन्तु जब एकादशी आगतों को बिदाई देने लगी, तो स्वतः ही अनुभव करने लगी कि उसका मन अशान्त और अस्थिर है। वह उस भीड़-भाड़ और शोर-शराबे में खड़ी होने योग्य नहीं थी। वह एकान्त चाहती थी। कहीं दूर शून्य एकान्त में जाकर वह अपने से कुछ कहना चाहती थी; कुछ अपनी बात सुनना पसन्द करती थी······लेकिन कैसी उसकी परेशानी थी—वह विषम बनी हुई भी कठिनाई से मुस्करा कर, आगत-अभ्यागतों को विदा कर रही थी·······जैसे वह किसी नाटक का अभिनय कर रही थी·······

: १७ :

जब सभी मेहमान चले गये, तब सुनील भी गया। उस दिन इच्छा करके भी वह रात को टिक नहीं सका। उसे कार्यवश जाना पड़ा। अन्य अतिथि भी चले गये। गाँव के किसान खा-पी रहे थे। भिखारी कुछ पाने के लिये शोर कर रहे थे। सन्ध्या आ गयी। एकादशी मकान की छत पर चली गयी। वहाँ जाकर वह बहती हुई नदी की ओर देखने लगी। वह प्रसन्न नहीं थी, खिन्न और उदास बनी थी।

दिन छिप चला था। दीये जल गये। जब दादा एकादशी के कमरे में रोशनी करने पहुँचा, तो उसे वहाँ न पाकर चकित हुआ। वह देर से एकादशी को नहीं देख रहा था। वह समझता था कि वह अपने कमरे में है।

वहाँ से दादा छत पर गया। जाकर देखा कि एकादशी मुँडेर का सहारा लिये नदी की ओर मुँह किये खड़ी है। पास जाकर दादा ने कहा—'बिटियारानी——'

सुनते ही एकादशी ने अपनी भरी आँखों को दादा की दुर्बल आँखों पर टिका दिया।

दादा ने कहा—'तुमने दिन भर से कुछ नहीं खाया। अब दीये जल गये। चलो न नीचे। मैं खाना लाऊँ।'

एकादशी ने इसका उत्तर नहीं दिया। वह फिर नदी की ओर देखने लगी। उधर ही देखते हुए उसने पूछा—'तुम मन्दिर में गये थे क्या?'

दादा बोला—'कहाँ गया, बिटिया! आज तो इन टाँगों पर ही खड़ा रहा।'

यह सुनकर एकादशी नीचे चल पड़ी। कमरे में जाकर उसने गरम दुशाला ओढ़ लिया, क्योंकि सर्दी हो चली थी। दादा से बोली—'मेरे साथ आओ।'

दादा चल पड़ा। वह अपनी बिटिया का मनोरथ समझ गया।

एकादशी चुपचाप मन्दिर की ओर चल पड़ी। वहाँ जाकर देखा कि अनन्त की कोठरी बन्द है। वह वहाँ नहीं था।

पता लगाकर दादा ने कहा—'शाम तक तो लोगों ने उसे यहाँ देखा। जग्गू कहता था कि अनन्त भैया उसे नदी पर बैठा मिला था। शायद तोता चमार के यहाँ हो। वह उसकी लड़की का इलाज करता है।'

'अच्छा, उधर ही आओ।' कहते हुए एकादशी बढ़ चली। —

वहाँ जाकर उसने द्वार से देखा कि अनन्त बैठा है। वह तोता की आठ-दस वर्ष की लड़की के सिर पर हाथ फेर रहा है। वहीं पास ही एक ओर तोता बैठा है। घोटों पर मुँह रखे कुछ सुन रहा है। एकादशी ने यह भी देखा कि लड़की के कई जगह पट्टी बँधी है। तभी उसे चौधरी की बात का स्मरण हो गया। उसी प्रकार देखते हुए उसने साँस भरकर कहा—'अरे, अनन्त······तू·······'

उसी समय दादा ने अनन्त को पुकारा। सुनते ही वह चौंक गया। उसने मुँह उठाकर द्वार की ओर देखा। वहाँ दादा के साथ एकादशी को देखते ही वह खड़ा होकर बोला—'तुम, एकादशी··· ···'

एकादशी आगे बढ़ आयी। अनन्त नहीं देख सका कि उसकी आँखें भी डबडबा आईं हैं।

दादा बोला—'तुम आज क्यों नहीं आये, भैया?'

'हाँ, आज नहीं आ सका। अभी शाम को सुना।' अनन्त ने कहा।

उसी समय तोता ने कहा—'कौन, जमींदार की बेटी? ओ धन्यभाग हमारे! आओ। मालकिन।'

किन्तु दादा ने फिर कहा—'आज दावत थी। बाहर के बहुत से आदमी आये थे। पर तुम नहीं·······'

अनन्त मौन रह गया। वह एकादशी की भरी आँखों में डूब गया।

उसी समय तोता की लड़की ने कहा—'मालकिन से बैठने को कहो, बापू! खड़ी हैं।'

एकादशी ने चुपके से आँखें पोंछ लीं। लड़की की ओर देखकर बोली—'अरी, तू कैसी है! ले बैठती हूँ। यह कहते हुए वह उसके

पास ही धरती पर बैठ गयी और बोली—सुना है कि तुझे कोढ़ है ! अब कैसा है ?'

अनन्त बोला—'अब अच्छी है। यह बड़ी नटखट है। मुझसे मुँह बनाकर बोलती है। पहले जब आयी थी, तो शरमाती थी। पर अब तो मेरी नकल उतारती है।'

एकादशी ने इस बात को छोड़कर कहा—'पता है, तुम कब से नहीं आये ! आज भी नहीं। शायद बिना बुलाये नहीं आये,—क्यों ?'

अनन्त आतुर बन गया। बोला—'हाँ, आज आना था। नहीं आ सका। मैं इस राधा की दवा में लग गया। यहीं आकर तो सुना था।'

एकादशी बोली—'तो इसका नाम राधा है। नाम भला है।'

अनन्त बोला—'इस लड़की की माँ नहीं है। यह बाप अन्धा है।'

एकादशी ने साँस भरी—'माँ है नहीं, बाप अन्धा है ! बड़ी समस्या है !'

तभी तोता ने कहा—'अनन्त भैया ने इस लड़की को बचा दिया। मुझे भी सहारा दे दिया। भगवान इसका भला करे।'

अनन्त बोला—'नदी पर बैठा था। तब बैण्ड बज रहा था। बड़ा अच्छा स्वर गा रहा था।'

'तुम आये क्यों नहीं !' दादा बोला—'तुम्हें आना था। बिटिया ने क्या सुबह से कुछ खाया है।'

अनन्त बोला—'इस गाँव में ऐसे बहुत होंगे, जो नहीं गये होंगे। बुलाये नहीं गये होंगे,—क्यों राधा ? हमारी यह राधा ही कहाँ गयी ? बुलाया ही नहीं। बड़े आदमी के यहाँ बड़ों को ही बुलाया गया। और

जिन्हें कभी जीवन में मिठाई-पूड़ी नसीब नहीं हुई, उन्हें आज भी अवसर नहीं दिया गया।'

तोता बोला—'मालकिन भली हैं। गरीबनिवाज हैं। जब इस लड़की की माँ थी, तो बड़ी मालकिन से कुछ माँग लाती थी। वे बड़ी धर्मात्मा और पुण्यात्मा थीं!'

एकादशी ने पूछा—'यह राधा कब से बीमार है?'

'मालकिन, इसे तो कई महीने हो गये।' तोता बोला—'बड़ी बद-नसीब है यह भी!' यह कहते हुए उसने साँस भरी और फिर कहा—'इस सड़ने से तो इसका मर जाना अच्छा है। यह बीमार है, बाप अन्धा और दाने-दाने का मोहताज है। लगता है कि भगवान भी हमारी ओर से मुँह फेर कर खड़ा हो गया है।'

उसी समय एकादशी ने देखा कि अपने बाप की बात सुन लड़की राधा रो पड़ी। उसकी आँखें बहकर गालों पर आ गयीं। तभी प्यार से लड़की के सिर पर हाथ रखकर उसने कहा—'रोया नहीं जाता, राधा!'

यह सुनते ही, राधा की हिचकियाँ बँध गयीं। उसने रोते-रोते कहा—'ये बाबू न होते तो हम दोनों ही मर जाते! बापू भूखा और प्यासा ही मर जाता और मैं······हाँ, मालकिन!'

एकादशी ने तोता से कहा—तुम्हें मेरे पास आना था। अब कल आना। मैं मुन्शी से कह दूँगी, वह हर महीने तुम्हारे गुजारे लायक़ देता रहेगा, समझे!'

तोता ने कृतज्ञ भाव से कहा—'तुम युग-युग जीओ, मालकिन!'

एकादशी खड़ी हो गयी और अनन्त से बोली—'अब उठो। मेरे साथ चलो।'

अनन्त उठ गया। एकादशी ने राधा की ओर देखकर कहा—'मैं तेरे लिये पूड़ी-मिठाई भेजती हूँ, खाना।'

यह सुनकर राधा मुस्करायी। लजा गयी।

एकादशी ने फिर उसके गालों को थपथपाते हुए कहा—'भली लड़की रोया नहीं करती, हँसा करती है, समझी!'

अनन्त बोला—'इसे छूत का रोग है। कुष्ठ है।'

'तो—?' एकादशी ने उसकी ओर देखा।

'कहता हूँ, तुम अधिक न छुओ।'

'पर तुम्हें नहीं लगा, यह छूत का रोग!'

अनन्त ने बाहर अन्धकार की ओर देखकर कहा—'मेरी क्या बात?'

यह सुनकर, एकादशी ने राधा की ओर देखा। उसीसे कहा—'क्यों री, तुझे ऐसा रोग है?'

राधा ने कह दिया—'हाँ, मालकिन!'

'दुत् पगली! ऐसा कुछ नहीं। अब मैं तुझे रोज छुआ करूँगी। जो डरते हैं, उन्हीं को लगता है। मुझे नहीं।'

तोता बोला—'मालकिन, कष्ट कर्मों के भोग हैं। हम पापी हैं।'

एकादशी से कुछ नहीं कहा गया। उसे लगा कि वह तोता जैसे वेदनाओं के सागर में पड़कर डूबने लगा है और छटपटा रहा है। वह चल पड़ी। अनन्त भी चल दिया। रास्ते में एकादशी ने दादा से कहा—'तोता के घर खाना भेज देना,—अभी!'

दादा ने कहा—'अच्छा!'

घर पहुँच कर एकादशी और अनन्त कमरे में चले गये। तभी अनन्त ने कहा—'तुम्हें यह साड़ी भली लगती है। क्या नयी मंगाई है? रंग भी अच्छा है।'

बात सुनकर एकादशी शरमा गयी। उसके गालों पर लाली दौड़ गयी। उसने देखा कि अनन्त भावनामय बना है। जैसे कविता करने के मूड में आ गया है।

अनन्त बोला—'एक वर्ष बीत गया। परसाल ही तो इस कमरे में आज के दिन मैं और तुम थे। खूब हँसे और बोले थे। लगता है कि इतने बीच में तुम्हारा सौन्दर्य और निखर आया है। सौम्यता बढ़ गयी है,—भारीपन आ गया है। मैंने परसाल एक कविता लिखी थी। तुम्हें सुनाई थी।'

एकादशी बोली—'आज क्या लिखा ?'

'आज—?' अनन्त बरबस रुक गया।

एकादशी ने अपने स्वर पर जोर दिया—'हाँ, आज लिखते क्या, आने का विचार ही नहीं था। गैर समझ लिया होगा। मैं कहती हूँ न, तुम गूढ़ हो······सख्त बने हो। और दोष मुझे देते हो !'

अनन्त बोला—'तो अब विवाद क्या ? जिसे तुम झूठ कहती हो, उसे मैं सत्य कैसे कहूँगा।'

बरबस एकादशी ने मुस्करा दिया। उसने अपनी मधुर आँखों से अनन्त की ओर देख कर किंचित हँस भी दिया।

अनन्त बोला—'दादा कहता था न कि दिन भर से भूखी हो ! पर मैं किससे कहूँ कि आज मुझे भी निराहार रहना पड़ा है। मुझे तुमसे स्वयं मिलना था। बाहर जाना था। पर इस लड़की राधा की सेवा में लग गया।'

एकादशी ने पूछा—'बाहर क्यों जाना है ?'

अनन्त बोला—'जानती तो हो, रोटियों के लिये मेरे पास कोई आधार नहीं है। मैं किसी की दया पर आश्रित नहीं रहूँगा। अब तक

लिखने से जो कुछ उपार्जित किया, वह इस लड़की राधा के इलाज में लगा दिया।'

एकादशी उत्सुक बन कर कुछ और सुनना चाहती थी। उसने देखा कि अनन्त निरा अबोध बन कर अपनी बात कह रहा है। सच, जैसे अभी निरा बच्चा है। जिसकी आँखों में भरपूर दीनता झलक आई है। वह बोली—'और मुझसे कुछ नहीं कहा? कहना नहीं चाहते?'

'तुमसे बहुत कुछ कहा, एकादशी! अब कहाँ तक कहूँगा। मेरी दिशा का कहीं ठौर नहीं। अनन्त है। दूर है। सच, मैं अपने लिये तुमसे कुछ नहीं कह सकूँगा। वह मुझे नहीं रुचेगा। वैसे मेरा निजी खर्च भी अधिक नहीं है। तुम मेरे पास पाओगी ही क्या,—कुछ लिखे कागज, कुछ किताबें। मेरी यही सम्पदा है।'

एकादशी ने खिड़की के बाहर अन्धकार की ओर देख कर कहा—'तुम अच्छे हो...सुखी हो।'

अनन्त हँस पड़ा। बोला—'सभी इस भ्रम में हैं। एक-दूसरे को देख कर जीते हैं! निर्धन अमीर को सुखी समझता है, और अमीर निर्धन को। अजीब विडम्बना है।'

'तो मैं अपने लिये क्या कहूँ......कैसे कहूँ ...'

यह सुनकर अनन्त नहीं बोला। वह एकादशी की बात में डूब गया। जैसे तथ्य समझ गया। उसी समय दो थालों में लगा हुआ खाना आ गया। उसे देख अनन्त बोला—'दादा, परसाल मैंने और एकादशी ने एक थाल में खाया था। तब आज क्यों नहीं?'

एकादशी ने कहा—'हाँ दादा! एक थाल ले जाओ। और तोता के घर खाना पहुँचा दिया?'

दादा ने कहा—'हाँ बिटिया!'

भोजन करते हुये अनन्त बोला—'खाना अच्छा बना था। लगता है, दावत ऊँचे दर्जे की थी। सुना है, मेहमान बड़े-बड़े आदमी आये। सुनील बाबू गये ?'

एकादशी ने कहा—'चले गये।'

'सुनील बाबू चतुर आदमी हैं।' अनन्त बोला—'वे आज की दुनिया का प्रतिनिधित्व करते हैं। जरूर वे अधिक पैसे कमायेंगे। सुखी रहेंगे।' फिर उसने कहा—'वह लड़की राधा इस मिठाई को खाकर प्रसन्न होगी। उसे क्या कभी मिली होगी! राधा समझदार है। अवसर पाती तो योग्य बनती।'

यह सुनकर एकादशी हँस पड़ी। वह हाथ में बरफी का टुकड़ा लेकर बोली—'यह खाओ। लो।'

अनन्त ने टुकड़ा ले लिया और बोला—हँसी कैसे आई ?'

एकादशी ने कहा—'तुम्हारी बात पर, देखती हूँ, तुम सभी को भला कहते हो। और यह नहीं जानते कि बच्चे सभी भले लगते हैं। जाने इस दुनिया में कितने हैं कि जो बे-खिले मुरझा जाते हैं।'

: १८ :

भोजनोपरान्त एकाएक अनन्त ने इच्छा व्यक्त की कि एकादशी गाना सुनाये। उस समय दावत का सभी कार्य समाप्त हो चुका था। जब एकादशी ने अनन्त की बात सुनी, तो वह पियानो के पास जा बैठी! उसने बजाना शुरू कर दिया। अनन्त आँख मूँद कर बैठ गया। एकादशी एक पुराना गीत गाने लगी :—

"सजनि, मैं हूँ प्रीत-रीति की दासी।.......

घायल मनवाँ चैन न पाये, निस दिन रहत उदासी॥...

जब गाना समाप्त हुआ, तो एकादशी ने कहा—'अब गाया नहीं जाता। अभ्यास नहीं रहा। गला नहीं चलता।'

अनन्त बोला—'बड़ा मधुर लगा। रात की रानी ने मेरी समस्त सुप्त भावनाओं को जगा दिया। क्षण भर के लिये किसी दूसरे लोक में पहुँच गया।'

हँस कर एकादशी ने कहा—'तुम कवि हो।'

उस समय रात काफी हो चुकी थी। नौकर भी सो गये थे। गाँव में सन्नाटा था। अनन्त मन्दिर जाने के लिये खड़ा हो गया।

एकादशी ने कहा—'सुबह आना,—जरूर।'

अनन्त स्वीकृति देकर चल दिया।

किन्तु जब प्रातः हुआ तो अनन्त प्रतीक्षा करके भी नहीं आया। निदान एकादशी ने स्वतः ही उसके पास जाना पसन्द किया। वह घर से निकली और मन्दिर तक जाकर अनन्त की कोठरी के पास जा खड़ी हुई। देखा कि अनन्त सो रहा है। वह जोर-जोर से खुर्राटे ले रहा है। एकादशी ने देखा कि कोठरी जैसे महीनों से साफ नहीं हुई है। वहीं एक ओर कलम-दावात और कागज पड़े हैं। कुछ लिखे हैं, कुछ बे-लिखे हैं। एकादशी नीचे बिछी चटाई पर बैठ गई, खिड़की की राह से नदी की हवा आ रही थी। वह सुहावनी लग रही थी। उसमें ठण्ड भी थी। तभी एकादशी की दृष्टि एक कॉपी पर पड़ी जिसके ऊपर लिखा था—'निजी पृष्ठ।' बरबस एकादशी ने उसे उठा लिया और खोल कर पढ़ा तो वह अनन्त के दैनिक कार्य-कलापों की डायरी थी। यह देख एकादशी को अनायास ही कौतुक हो गया। उसने कई पृष्ठों को पढ़ा। फिर आगे के

पृष्ठ छोड़ कर जब वह बीते हुये कल की तिथि पर झाँकी तो उसने समझ लिया कि यह अनन्त ने रात में लिखा है, जिसमें लिखा था :—

'आखिर जिस बात की मैं शंका लिये था, वही हुआ। मेरी आत्मा कह रही थी कि एकादशी आयेगी। वह अपनी वर्ष-गाँठ पर मुझे न भुला सकेगी; वह आई। मुझे अपने घर ले गई। पर अच्छा यही था कि वह न आती। क्योंकि मेरी तो आकाँक्षा यह है कि एकादशी सुखी हो···जीवन का चिरन्तन अभिनय करने में वह सफल हो! मैं इतना समझ कर सन्तोष करता कि एकादशी ने मुझे भुला दिया। तब मैं एकान्त में बैठ कर उसके जीवन की मंगल कामना करता······अपने समस्त भले संस्कारों, पूजा-पाठों का आश्रय ले भगवान से प्रार्थना करता कि वह एकादशी को सुखी रखे···सदा मनोरम और सहृदय बनी रहने दे। लेकिन एकादशी तो फिर मेरे पास आ गई। उसके साथ जाकर, गाना सुन कर, उस रूप की परी को अपने सन्निकट देख कर, मैंने यही तो पाया कि मेरे मानस में भी भूचाल उठा है···वह मुझे उड़ा देना चाहता है···हाँ मैं ही जानता हूँ कि रात मेरे मानस में कैसी अधीरता, कितनी चंचलता और कितनी महान मादकता आ घिरी थी। उसने मुझे अशान्त बना दिया था। मैं एकादशी के पास से न उठ आता तो···तो सच, मैं उस एकादशी से कहता, चिर-पुरातन से चले आये इन्सान की वाणी में बोल पड़ता—'ऐ एकादशी! मैं समर्पित हूँ······मैं भिक्षा के हेतु तेरे सम्मुख···नत हूँ, जो साधना मैंने आज तक की, उसमें अपने को फेल हुआ पाता हूँ···जीत तेरी है, मैं हार चुका हूँ······'

उस पन्ने के दूसरे पैरे पर अनन्त ने लिखा था—'लेकिन इस अभिनय का अन्त क्या है? मैं सुनील और एकादशी के मध्य नहीं पड़ना चाहता। मेरा हित इसी में है कि एकादशी का मन शान्त हो, सुखमय हो। और

यही मेरी एकान्त इच्छा है। वह यौवनमयी और प्रेममयी एकादशी आज भी अमोल है···अलभ्य है···सुवासमय है। मेरे लिये वह सदा वन्दनीय है। आह! उस पगली एकादशी को मैं समझा पाता कि वह जहाँ भी जायेगी, जिस पुरुष की पत्नी बनेगी, उससे मेरा कोई दुराव नहीं। मेरे लिये एकादशी सदा प्राप्य है···वह मेरे निकट है। मैं उसके शरीर की पूजा नहीं करता, आत्मा की करता हूँ। मेरा और उसका सम्बन्ध अमर है।

आगे अनन्त ने लिखा था—'यौवन और सुहावने जीवन की यह लीज पर खड़ी हुई एकादशी जाने क्यों इस निपट दुर्गम और भयावने पथ पर चली आती है? जाने उसे क्या आनन्द मिलता है? भला मेरी सूखी भावनाओं से उसे क्या प्राप्त होता है? यहाँ अन्धेरा है···सूनापन है।'

'मेरे सामने अब पैसे की अधिक चिन्ता है। कल दिन भर भूखा रहा। सन्ध्या समय यदि एकादशी न बुला ले जाती, तो भूखा ही सोता। सुबह एक रुपया था, वह तोता के हाथ पर रख गया। क्या करूँ, वह मुझसे अधिक विवश था। अन्धा था।'

'तोता के लिये एकादशी ने सहायता का आश्वासन दे दिया, यह सन्तोष का विषय रहा। अब मैं उसकी चिन्ता से मुक्त हो गया। यह मैंने पहले भी चाहा था। परन्तु एकादशी से कहाँ तक कहता। बहुत कहा। उसकी अपनी भी आवश्यकताएँ हैं। मैं अपनी इस इच्छा को कि एकादशी अपना सर्वस्व लुटा दे, जन-जन के हृदय की अधिष्ठात्री का आसन ग्रहण करे, अब कार्यरूप में परिणत नहीं करूँगा! मैं भी एकादशी को सजी हुई देखना चाहूँगा।'

एकादशी ने डायरी रख दी। अनन्त अभी सो रहा था। उसने बिखरी हुई वस्तुओं को सजाया, करीने से रखा। फिर कोठरी में झाड़

दी, इस काम से निवृत बन, उसने अनन्त को पुकारा। जगाया।

किन्तु अनन्त ने हूँ-हाँ की और करवट बदल ली।

एकादशी ने कहा—'उठो ना! सूरज चढ़ आया।'

अनन्त जाग गया। उसने आँख खोल कर एकादशी की ओर देखा।

वह बोली—'बहुत सोते हो।'

अनन्त आँख मलता हुआ उठ बैठा। उसने कहा—'रात देर में सोया था। तुम्हारे यहाँ से आकर भी मैं देर तक जागता रहा।'

एकादशी ने अनन्त की काया देखी और कहा—'तुम बहुत दुर्बल हो। लगता है, अपने स्वास्थ्य की ओर से उदासीन बने हो।'

अनन्त ने मुस्करा दिया—'इतना ही क्या कम है कि यह अनन्त जिन्दा है....तुम्हें देख पाता है?'

किन्तु एकादशी तुनक गई। बोली—'मैं तुम्हें ऐसे नहीं रहने दूँगी। देखते हो, पसलियाँ निकल आई हैं। एक-एक हड्डी चमक रही है। क्या ठीक है यह? इस जीवन को मारना क्या उचित है?'

अनन्त ने कुरता पहन लिया और बोला—'अनन्त को बढ़िया माल नहीं मिलता, घी-दूध भी नहीं। रूखी रोटियाँ मिल जायें, तो सौभाग्य मानता है। भला जिसका यह क्रम हो, उसे क्या मोटा देखा जा सकता है।'

उदास स्वर में एकादशी बोली—'तुम स्वयं खाई खोदते हो, अपने जीवन के प्रति उपेक्षित बने हो।'

उसी समय अनन्त ने कोठरी की ओर देखा। सामान व्यवस्थित पाया। चकित बन कर वह बोला—'तो यह सफाई का काम तुमने किया? वाह! वाह! इतना किया और अपने हाथों में लगी धूल को साफ भी नहीं किया। शायद आज प्रथम अवसर था।'

एकादशी बोली—'अब मैं घर का काम स्वयं करूँगी। नौकर हटा दूँगी। तुम्हारी कोठरी में इतनी धूल थी कि बस मुझे लगा, यहाँ कोई आदमी नहीं रहता। जाने तुम कैसे आदमी हो। लोटा-गिलास कहीं पड़ा है, थाली-तवा कहीं। तुम्हें अपने कागज-पत्रों की भी सुध नहीं। ऐसे थोड़े ही कटता है यह जीवन! यह भी नियम माँगता है। जीवित रहने के लिये कुछ खूराक माँगता है अनन्त! वह तुम इसे नहीं देते। नहीं देना चाहते। यह तुम्हारे सिर के बाल हैं, जैसे लगते हों किसी खेत के झुण्ड! तुम अपने शरीर को भी माँज-धोकर नहीं रखना चाहते, जो ईश्वर की देन है। उसे इस तरह रखते हो!'

'तो तुम क्या करने चली हो?' एकाएक अनन्त ने जैसे एकादशी की बात का अभिप्राय समझना चाहा।

'मैं कहती हूँ भगवान के दिये इस शरीर का ध्यान रखो। इसमें जो दुर्बलता आ गई है, उसे दूर करो।' एकादशी बोली—'देखती हूँ यहाँ तुम्हारी कोई व्यवस्था नहीं है। घर से उठ कर यहाँ आ तो बैठे, पर किस सहारे पर तुम्हारा खाने-पीने का ढँग भी ठीक नहीं है। ऐसे रहे, तो क्या देर तक जी सकते हो?'

उस समय अनन्त बाहर की ओर देख रहा था। किन्तु जब उसने एकादशी की ओर देखा, तो पाया कि उसकी आँखें गीली हो आई हैं। वे रो देना चाहती हैं। यह देख अनन्त से एकाएक कुछ नहीं कहा गया। वह स्वयं अधीर बन गया।

लेकिन एकादशी बोली—'मैं सोचती हूँ कि आखिर तुम क्या हो? तुम क्या चाहते हो! क्या ऐसे ही मरना पसन्द करते हो, तुम! तब तो यह पाप है! जीवन की जघन्यता है! मैं आज तक तुम्हें नहीं पहचान सकी। तुम भूखे रहते हो, इस जीवन को घुल-घुलकर काटते हो, आखिर

क्यों ? तुम तोता की लड़की राधा की चिन्ता कर सकते हो, उसके इलाज पर रुपया दे सकते हो, पर स्वयं भूख की पीड़ा सहते हो ! न शऊर से कपड़ा पहन सकते हो ! तुम अपनी ओर से किसी को यह अधिकार भी नहीं देते कि कोई तुम्हारी चिन्ता करे। मैं पूछती हूँ तुम्हारा यह दुःख क्यों है ? यह परम्परा क्यों ?' यह कहते हुए एकादशी की भरी आँखें गालों पर आ गयीं। उनकी कुछ बूँदे नीचे टपक गयीं।

किन्तु अनन्त स्वयं व्याकुल था। अधीर बना था। उसे यह अच्छा नहीं लगा कि एकादशी ने कोठरी में आकर उसकी स्थिति का वास्तविक रूप देख लिया। अनन्त किनना कातर है, यह भी समझ लिया। फिर भी वह बोला—'न, एकादशी ! मुझे चिन्ता क्या……दुःख क्या ! जब ऐसा होगा, तो अनन्त तुम्हारे पास पहुँच जायेगा। यह फिर अपना अधिकार तुमसे माँग लेगा।'

एकादशी ने जैसे झुँझलाकर कहा—'तुम कुछ नहीं माँगोगे…… कुछ नहीं करोगे ! बोलो, डायरी में क्या लिखा है ? अपनी किस भावना का लेखा तुमने इसमें अंकित किया है ! लगता है कि तुम पैसा, रोटी की चिन्ता करने लगे हो ! और जानते हो, इस संकरी पगडण्डी पर तुम्हें नहीं चलना है……तुम विस्तृत क्षेत्र के मुसाफिर हो……दूर मंजिल पर जाना चाहते हो ! तुम अपनी चिन्ता न कर, समाज और देश की चिन्ता में लगे हो ! सब की तरह, इसी हेतु यह एकादशी भी तुम्हारा अभिनन्दन करती है…तुम्हारे समक्ष अपने को तुच्छ मानती है…… …'

: १६ :

एकादशी जब घर लौटी, तो अनन्त को साथ लेती गई। तभी उसने नाई बुलाने का आदेश दिया। जिसे सुन कर अनन्त ने पूछा—'नाई क्यों ?'

'फिर बताऊँगी। पहले मुँह-हाथ धो आओ। अभी सोकर आये हो।'

सुनकर अनन्त कमरे से निकल गया।

उसी समय एकादशी ने अपने-आप कहा—जो बात अनन्त के बाहर है, वही अन्दर है। यह जाने क्यों इस दुनिया में आ गया! अनोखा है। उसने दादा को बुलाकर कहा—'मैं कल बाहर जाऊँगी।'

सुनकर दादा ने पूछा—'कहाँ बिटिया ?'

बिटिया ने कहा—'बनारस या हरिद्वार। तुम भी चलना।'

'और कौन ?'

'अनन्त जायेगा।'

यह सुनते ही दादा ने जैसे रहस्यपूर्णभाव में एकादशी की ओर देखा। उसने समझा जिसे वह नहीं जानता, नहीं सोच सकता, वही है, यह एकादशी! निदान, दादा अपनी अज्ञानता पर लजा गया। उसे लगा कि वह गोद-खिलाई एकादशी से हार गया है। तभी वह झुकता-सा, सुकड़ा-सा, सामने टेबिल पर लगे फूलदान में से एक-दो फूल निकाल कर निरुद्देश ही उन्हें दूसरे स्थान पर लगाने लगा।

एकादशी बोली—'पण्डित रामदीन भी चलेगा। नहीं तो खाना कौन बनायेगा ? यहाँ से पहिले हरिद्वार, फिर कहीं और।'

दादा बोला—"अभी सर्दी है।' किन्तु तुरन्त ही उसने उत्साहपूर्ण होकर कहा—'हरिद्वार बहुत दिन से नहीं देख पाया बिटियारानी! एकबार बड़े मालिक के साथ गया था। अब फिर देख लूँगा। तुम्हारे प्रताप से मैं भी गंगा में गोता लगा लूँगा।'

इतने में अनन्त कमरे में आ गया। उसने आते ही चलती हुई बात को सुनकर कहा—'दादा, क्या है?'

दादा बोला—'तुम और बिटिया हरिद्वार जा रहे हो न, तो मैं भी गोता लगा आऊँगा।'

अनन्त ने बात सुनी और हँस दिया। वह एकादशी की ओर देखने लगा।

उसी समय जलपान आ गया। अनन्त दूध का गिलास लेकर बोला—'प्रातः भाग्यवान के मुँह देखने का यह फल है कि प्रथम ही दूध सामने आ गया।' और उसने गट्-गट् दूध पी लिया।

एकादशी बोली—'यह बर्फी और लड्डू भी।'

'हाँ, हाँ, मैं इनका भी आदर करूँगा। इन्हें क्या छोड़ दूँगा?'

एकादशी बोली—'कल हरिद्वार चलेंगे। मैं, तुम, दादा और पण्डित रामदीन।'

बरबस ही अनन्त विचलित हो गया और बोला—'मैं भी! मुझे नहीं! तुम जाओ!'

एकादशी ने जोर देकर कहा—'अब तुम्हें कुछ नहीं कहना होगा। चलना है, चलना पड़ेगा। अब तक मैं मौन थी, पर अब मुझे कहना ही पड़ेगा।'

यह सुनकर अनन्त ठहाका मार कर हँसा। वह एकादशी की ओर देखने लगा। उस समय दादा वहाँ से जा चुका था।

एकादशी बोली—'अभी दर्जी बुलाना है, तुम्हारे कपड़े सिलाने हैं।'

अनन्त बोला—'सुनील बाबू आयेंगे, तो वापिस जायेंगे। जानती हो वे क्या समझेंगे?'

किन्तु एकादशी ने उपेक्षा भाव से कहा—'लौट जायेंगे, तो फिर न आ सकेंगे?'

उस उत्तर की अनन्त ने अपेक्षा नहीं थी। इसीलिये उसे जो कहना था, नहीं कह सका। वह खड़ा होकर गुलदस्ते के पास गया और उसमें से गुलाब का खिला हुआ फूल निकाल कर एकादशी की वेणी में लगा दिया और बोला—'यह फूल भी अपने स्थान पर खिलता है। सच, तुम्हें देखकर ही मैं सहज में समझ जाता हूँ कि आदमी क्यों औरत को प्यार करता है······।'

'आह! पूरे मनोवैज्ञानिक बने हो क्या? बैठो! बैठो! यह दुनिया की रीति की बात मत करो।' एकादशी आँखों से हँसी और फिर मधुर होठों से मुस्कराकर बोली—'जानते हो, जब तुम ऐसा कहते हो, तो बस! मैं खो जाती हूँ······तुम्हारे इन झंकृत हुए स्वरों में जाने क्या पाने लगती हूँ!'

लेकिन अनन्त तो अपनी बात कहकर बाहर की ओर देखने लगा। उस समय निश्चय ही वह सुन्दर एकादशी की सीमा में खो गया। वह बरबस अपने को रोक लेना चाहता था। वह बोला—फूल के समान तुम हो······वैसी ही कोमल और सुगन्धमयी! यह फूल लोग कोट पर भी लगाते हैं। सुनील बाबू भी लगाते हैं। पर मैंने तो आज तक कोट भी नहीं पहना···फूल का लगाना तो क्या, उसकी सुगन्ध की भरपूर कल्पना भी नहीं कर सका!'

अधीर बनकर एकादशी बोली—'तुम ऐसे क्यों हो? क्या सचमुच ही तुम अपने को हीन समझते हो?'

मनुष्य जाने किस-किस से अपने को हीन मानता है। कहीं तो झुकता है। अपनी कमजोरी को बताना क्या बुरा है?'

एकादशी बोली—'मैं इसे नहीं मानती। यह अपनी हत्या करना है।'

अनन्त कमरे की छत की ओर देखने लगा। वह बोला—'पर मैं ऐसा नहीं मानता। यही मेरी दिशा है। आडम्बर भरा जीवन बोझ है, दम्भ का प्रदर्शन करना गुनाह है। क्या इसे तुमने कभी नहीं माना?'

उसी समय दादा ने आकर कहा—'नाई आ गया।'

'जाइये, इन बालों को कटा दीजिये। श्रीमानजी, इतना अवकाश भी नहीं पाते कि बालों में तैल-कंघी डाल लें। इनकी मिट्टी तो खराब न कीजिये। इन्हें कैंची-उस्तरे को अर्पण कर दीजिये।'

अनन्त उठा और बाहर जाने लगा।

एकादशी ने रोककर पूछा—'कैसे कटाओगे? सब नहीं, छोटे-छोटे।'

अनन्त ने बात सुन ली, पर अपना मत नहीं दिया।

तब एकादशी ने मुन्शी को बुलाया। उससे अनन्त के कुर्तें के लिये कपड़ा और धोतियाँ लाने को कहा। साथ ही उसने तोता और उसकी लड़की के भरण-पोषण करने का भी आदेश दे दिया। जब वह मुन्शी से अपने बाहर जाने और पीछे होशियारी से रहने की बात कह चुकी, तब वह बाहर के स्वच्छ नीलाकाश को देखते हुए अनन्त की बात लेकर अपने-आप बोली—'जो व्यक्ति कुष्ठ रोग से पीड़ित तोता की लड़की की सेवा कर सकता है, वही अपने प्रति उपेक्षित और उदासीन है,—है न यह अचरज की बात! निश्चय ही, अनन्त उस लड़की को न देखता, न सेवा टहल करता तो वह मर जाती। और देखो न उस लड़की की

बात ! कितनी ढिठाई, प्रेम और अपनत्व के साथ वह अनन्त से बोल रही थी और बातें सुन रही थी। लगा कि वह कभी अनन्त से दूर नहीं·······
जैसे अनन्त उसका ही हो, सच्चा सहोदर और आत्मीय·······'

फिर वह सोचने लगी। यही तो इस अनन्त की बात है। यह जहाँ भी जाता है, जिसके निकट भी बैठता है, जिससे भी मिलता-जुलता है, वही इसका बन जाता है। अनन्त सेवक जो है····सेवा करता है····

उसी समय मुन्शी ने कहा—'पीछे सुनील बाबू आयेंगे—वह आयेंगे ही ! क्या उन्हें पता है कि तुम जा रही हो ? अनन्त के साथ घूमने गयी हो।'

'आयें तो कह देना मैं देर में आऊँगी।'

मुन्शी चला गया। वह बाहर जाता हुआ बरबस ही अपने अतीत पर पहुँच गया। जहाँ उसने देखा कि यह वही एकादशी है कि जो उसकी गोद में खेलती, उसकी कलम तोड़ती और मचलती·······

वृद्ध मुन्शी अपने चश्मे के अन्दर से झाँकती हुई आँखों के सामने उन स्मृतियों के दृश्य देखता हुआ फिर अपनी जगह जा बैठा। ओह ! कितने परिवर्तन हुए। घर के कैसे-कैसे ठाट बदले। मुन्शी ने देखा कि मनोद्वेग से उसके हाथ काँप रहे हैं। घर की प्रतिष्ठा को लक्ष्य करके वह सोचने लगा–यह एकादशी जाने क्या करेगी ? यह क्या सोचती है ? कभी सुनील···कभी अनन्त····इसका कोई अब किनारा ही नहीं है, यह जमीं-दार की बेटी ! बाप-दादों की जायदाद पाकर अन्धी हो गयी है ! मान-प्रतिष्ठा खो देने पर ही तुली हुई है ! एक खेल रचती है, दूसरा बिगाड़ती है·······अजीब पहेली है !

मुन्शी सचमुच उस घर का सम्मान करता था। उसका जीवन इसी घर में बीता था। मन की बात मन में लिये वह बाहर की हरी घास

और कभी आसमान देखने लगा। बोला—यह रंग कब तक निभेगा ! पैसा खो रही है, एकादशी ! सुनील हजारों पर पानी फेर गया। यह अनन्त सचमुच ही अनन्त है, इसका कहीं अन्त ही नहीं......न खाने की ठौर, न रहने का ठिकाना है ! पूरा बाबा जान पड़ता है। इसने एकादशी पर जादू किया है......अपने इशारे पर नचाता है !

मुन्शी ने साँस ली। फिर बोला—अच्छा अब और कितने दिन हैं ! जमींदारी गयी कि बच्ची को पता लग जायेगा। यह न शान रहेगी, न नौकर-चाकर, न महल-दुमहले ! तब न अनन्त दिखायी देगा, न सुनील......कोई पास भी न फटकेगा !

दादा ने पूछा—'किस विचार में हो मुन्शी जी ?'

अचानक विचार-मग्नमन मुन्शी पुकार से चौंका। उसकी ओर देखा। वह पूछा—'यह तो बताओ बाहर कौन कौन जायेंगे ? तू भी ?'

दादा ने कहा—'हाँ, बिटिया ने तो कहा है।'

'अच्छा है, भाई ! इस बुढ़ापे में और घूम आ। कोई और भी ?'

'और रामदीन महाराज !'

'अच्छा, अच्छा, यह तो चाहिये ही, नहीं तो रोटी कौन पकायेगा। तू ऊपर का काम-काज देख लेगा। बस, ठीक। पर यह तो बता दे, सुनील बाबू नहीं जायेंगे ? कहीं रात कुछ कहा-सुनी तो नहीं हुई ? कल तो वही मालिक बने थे न ? आज क्या हुआ ? भाग्य का कैसा उतार-चढ़ाव है ! क्षण में कुछ......क्षण में......'

दादा ने कहा—'तुम तो बिटिया का स्वभाव जानते हो मुन्शीजी !'

'यही तो !' मुन्शी ने कहा—'ऐसे कब तक चलेगा ? बेहिसाब कुबेर भी भिखारी बन जायेगा। लेकिन कहें तो मुश्किल, न कहें तो—?' क्षण भर के बाद फिर बोले—'जन्म यहीं बैठकर काट दिया। तू तो मुझ से

भी पुराना है। सोचता हूँ, इस घर की बात जिस तरह चलती आई है, वैसे ही चले तो अच्छा है! पर आसार अच्छे नहीं। एकादशी सयानी तो हुई, पर लड़कपन न गया। सैर-सपाटोंमें मन है। जो आता है, वह अपना उल्लू सीधा कर ले जाता है। ये सब भूत हैं। खा जायेंगे इस जमींदारी को! वह फूआ आई तो बुढ़ापे में भी धन के मोह में डूब गयी! फिर सुनील बाबू······ये अनन्त······सभी तो मुख में राम बगल में छूरी लिये फिरते हैं भैया!'

दादा ने कहा—'अनन्त ऐसा नहीं है, मुन्शीजी! उसे बिटिया का कुछ नहीं लेना है।'

यह सुनते ही मुन्शी ने कहा—'यह गलत है। अनन्त भी दूध धुला नहीं। तू बुढ़ापे में सठिया गया है। वह भी आदमी है। पूरा बगुला भगत है। राम-राम जपता है।' कुछ चौंककर मुन्शी हँसे और फिर बोले—'तू भूल गया, अपनी जवानी के दिन? आज बूढ़ा हुआ है न, अब तो गले में माला डाले फिरता है। पर मुझे तो पता है कि वह तू ही था जब इस कल्लो कहारिन के पीछे-पीछे फिरता था। जो तवे सी काली, उठी हुई नाक, मोटे-मोटे होंठ,—अरे उसी पर तू माल बरसाता था। रे भले आदमी, जवानी अन्धी होती है। एकादशी जवान है, अनन्त जवान है, तो भला······हाँ रे, मैं नहीं मानूँगा, तेरी बात! उस अनन्त को भी लालच है। धन का न सही, एकादशी का सही,—सच! और वह इस घर के चारों ओर मँडराता हुआ सुनील······बाप रे! राम ही बचाये उससे! हाँ, मैं कहे देता हूँ, अनन्त बाजी हार जायेगा! उससे कभी न जीत सकेगा!'

दादा बोला—'अच्छा यह बात है! तो फिर शर्त बदते हो! वह जीत जाये तो तुम्हारी टाँग तले से निकल जाऊँगा।' उसने फिर कहा—मुन्शी

जी, बिटिया इस अनन्त के लिये रात-रात भर रोयी है। अनन्त उसका अपना है। अनन्त ऊपर से सुन्दर न सही, मन अच्छा है। गाँव में हर कोई इस अनन्त से प्यार करता है। सुना न तुमने, तोता चमार की लड़की को इसीने बचा लिया। जिससे गाँव ने नफरत की, अनन्त ने उसीको प्यार किया!'

बरबस मुन्शी ने कहा—'हाँ, हाँ!—'अरे अक्लमन्द, बात एकादशी की है। वह जमींदार की बेटी है। सुख में पली है। गद्दों पर सोती है। जाने तू कैसे कहता है कि अनन्त सरीखे भिखारी के लिये जोगिन बन जायेगी······जन्म भर वैरागी बनकर उसीका नाम लेगी! यह सभी विपरीत बातें हैं। एक महलों का स्वप्न देखती है, दूसरा झोपड़ियों के। ऐसे निभाव नहीं होता। जिन्दगी का सफर ऐसे नहीं किया जा सकता।'

दादा ने छोटी-छोटी आँखें पिचकायीं और कहा—'भोले मत बनो मुन्शीजी! जब दिल में आग लगती है तो सब कुछ हो जाता है!··· प्रेम दीवाना बना देता है। बूढ़े हो गये, बाल पक गये, पर इतनी बात भी नहीं समझ पाये!'

मुन्शी ने उदास और टूटे मन से कहा—'हाँ, भाई! हमने कुछ नहीं समझा। इस जीवन को रोटियों की चिन्तामें गला दिया। फिर हम हैं ही कौन? न तीनमें न तेरह में! जैसे तैसे इस जिन्दगी को काट रहे हैं। कुछ दिन और हैं, भगवान इन्हें भी काट दें; बस यही चाह है।' यह कहते हुए मुन्शी ने साँस ली और फिर बोला—'पर कहे देता हूँ, एकादशी अच्छे रास्ते पर नहीं है। मैं उससे कुछ कह नहीं पाता। पर मन मानता नहीं, सोने का घर खाक हो रहा है? दुःख इसलिये होता है कि हमने इतने दिन इस घर का नमक खाया है।'

दादाने साँस भरी और कहा—'इसे विटिया भी समझती है मुन्शी जी! वह साथी चाहती है। इसीसे वह कभी सुनील की ओर झुकती है और कभी अनन्त की ओर। पर अनन्त दूर रहना चाहता है। वह विवाह से भागता है। सुनील पास आता है। धीरे-धीरे वह पास ही आता जाता है।'

मुन्शी ने दीर्घ निःस्वास भरी। सामने की सन्दूकची पर टेक देकर झुक गया। दादा भी उठकर अन्दर चला गया।

फिर मुन्शी ने ऊपर मुँह उठाकर कहा—'सब जगह स्त्री और धन का झगड़ा है। दुनिया इसी में उलझी है। देखें एकादशी का पलड़ा किधर झुकता है? यह किसे वरन करती हैं। कौन इस बड़े महल और जायदाद का स्वामी बनता है?······'

: २० :

अनन्त बाहर जाना नहीं चाहता था। एकादशी से मन की बात न कह सका। जिस उत्साह और तल्लीनता के साथ एकादशी तैयारी कर रही थी, उसी से वह कुछ न कह सका। जब दूसरे दिन सब लोग स्टेशन पर पहुँच गये, तो अनायास उन दोनों के बीच फिर विवाद खड़ा हो गया। जैसे यात्रा के प्रथम चरण में ही व्यवधान आ उपस्थित हुआ हो। एकादशी ने टिकिट लाने के लिये अनन्त को दस-दस रुपये के पाँच नोट दिये और कहा—टिकिट ले आओ। यह सुनकर अनन्त ने प्रश्न किया—'टिकिट कहाँ का?

'कहाँ का!' सुनते ही एकादशी का माथा ठनका। उसे अनन्त का उत्तर अच्छा नहीं लगा। वह हँसी, कुछ झुँझलाई भी। तब दूसरी

ओर देखकर स्वयं बोली—अजीब बात है ! जब घर से निकल आये हैं, तो हजरत पूछते हैं, किधर जाना है ! उसने अनन्त से कहा—'क्या तुम नहीं जानते, कहाँ जाना है ?'

अनन्त तब भी खड़ा ही रहा फिर उसने कहा—'हाँ एकादशी, हमें कहाँ जाना है ? हरिद्वार न ?'

एकादशी पूर्ववत खड़ी थी, भारीपन लिये हुए। कोई नौकर यदि ऐसा आचरण करता, तो वह उसे फटकार देती। किन्तु अनन्त से क्या कहे ! कैसे कहे कि तुम अनाड़ी हो, पूरे अव्यवहारिक ! घर पर एक बार नहीं, सौ बार कहा सुना गया कि हरिद्वार चलना है। निदान, उसने मन में कहा, मैं तो जानती थी कि जिस शान्ति और सुख की खोज में घर से बाहर जा रही हूँ, वह नहीं मिलेगी। इस अनन्त के साथ उलझन और बढ़ेगी। वह बोली—'मैं कहती हूँ तुम इसी प्रकार इस यात्रा का नेतृत्व करोगे क्या ? मुझे सहारा दोगे क्या ? देखती हूँ तुम मुझे बीच धारा में डुबो दोगे ! कितनी ही बार तो कहा होगा कि हरिद्वार चलेंगे !'

यह सुनकर अनन्त हँस पड़ा। वह टिकिट घर की ओर बढ़ा—'अच्छा टिकट लाऊँ,—चार ! कौन क्लास के ?'

बात सुनी तो एकादशी ने कुछ नहीं कहा। उसने दूसरी ओर मुँह फेर लिया।

अनन्तने फिर आग्रह किया—'एकादशी बताओ ! भई, तुम साथ हो, इसीसे पूछता हूँ। अन्यथा मैं थर्ड क्लास का ले आता। मैं उसी में बैठना पसन्द करता हूँ।' कहते हुए अनन्त ने एकादशी से उत्तर पाने की अपेक्षा नहीं की। वह टिकिट घर की ओर बढ़ गया। थर्ड क्लास के चार टिकिट ले आया। वे बीस रुपये में आ गये। फिर उसने

मन में कहा, लेकिन एकादशी तो इस दर्जे में न जायेगी। टिकट के लिये रुपये दिये, आखिर क्यों इतने दिये! जरूर ही सेकिण्ड या इण्टर में जायगी·······।

गाड़ी आ गयी। कुलियों ने सामान उठा लिया। वह अनन्त के आदेश पर थर्ड क्लास के डिब्बे में रख दिया गया। एकादशी पूरी मेम साहब बनी अभी बाहर खड़ी थी। वह हाथ में बटुआ लिये अनमनी सी चारों ओर देख रही थी। तभी उसने देखा सेकिण्ड क्लास के डिब्बे में, मजिस्ट्रेट साहब हैं। अभी उस दिन उसके यहाँ दावत में सपत्नीक आये थे और परिचय हुआ था।

लेकिन मजिष्ट्रेट ने एकादशी को नहीं देखा। एकादशी ने मुँह फेर लिया।

दादा ने अनन्त से पूछा—'क्या तुम और बिटिया इसी डिब्बे में बैठोगे?'

'हाँ,!'

दादा अवाक् रह गया। उसने प्लेट फार्म पर खड़ी एकादशी की ओर देखा। देखा वह उदास और खिन्न है। उसने कहा—'भैया, इस डिब्बे में क्या कभी बिटिया बैठती है? इसमें तो हमलोग······· बैठते हैं। तुम दोनों ऊपर दर्जे में बैठो। तो······जाओ टिकिट बदलवा लाओ।'

अनन्त मुस्कराया। बोला—'दादा, इस वर्ग-भेद ने ही तो हमें चौपट किया है। कहीं रुपयों से महत्व आँका जाता है? यह पैसा ही तो आदमी को आदमी से दूर करता है। बोलो, क्या इस डिब्बे में आदमी नहीं बैठते? यहाँ सभी धर्मों और जातियों को समानता प्राप्त है—यह कास्मोपोलिटन है। अहा! देखोतो, यहाँ ऊँच-नीच का भेद नहीं है।

सबमें भाई-चारा है। देश का सच्चा दर्शन यहीं होता है। जाओ, बुलाओ एकादशी को।'

उसी समय गाड़ी ने सीटी दी। गार्ड ने झण्डी हिलायी, अनन्त ने एकादशी के पास जाकर कहा—'चलो न। मैं समझ गया कि आज पहले-पहल तुम्हें थर्ड क्लास के डिब्बे में चलना पड़ेगा। पर मैं इससे अतिरिक्त क्या कर सकता था? सेकिण्ड या फस्ट में तुम भले ही शोभा पाती, पर मेरा वहाँ बैठना क्या अच्छा लगता? मुझे यह भेद-भाव पसन्द नहीं। आओ।'

एकादशी डिब्बे में चढ़ गयी। बैठते ही उसने नाक पर रुमाल लगा लिया। एक अजीब प्रकार की उपेक्षा और हीन दृष्टि से उसने मुसाफिरों की ओर दृष्टि पात किया। देखा डिब्बे में सभी तरह के आदमी हैं, शहरी, देहाती, गरीब और अमीर! कुछ आदमी चिलम पी रहे हैं और धुएँ से डिब्बे का वातावरण गन्दा कर रहे हैं। एकादशी के सामने ही बेंच पर दो तीन स्त्रियाँ बैठीं हैं। गाँव की हैं। एक स्त्री की गोद में बच्चा है, रो रहा है। एकादशी परेशान थी, फिर देखा उस बच्चे ने गोद में पाखाना कर दिया! बच्चे की माँ की आयु अधिक नहीं थी। शायद वह डेढ़ दो साल का बच्चा उसकी पहिली सन्तान थी। फिर भी स्त्री अतिशय दुर्बल और हीन थी। बच्चा रोता ही गया। उसकी माँ जितना शान्त रखने की चेष्टा करती, वह उतना ही रोता। एकादशी ने घृणा से अपना मुँह फेर लिया। वह खिड़की से बाहर झाँकने लगी।

अनन्त उस नारी की परेशानी अनुभव कर रहा था। वह बेचारी बच्चे का पाखाना और पेशाब कपड़ों में लिये ही, सकुचा रही थी। लोग उसे घिनौटी समझ रहे होंगे, यह वह अनुभव कर रही थी। वह बारबार डिब्बे में इधर-उधर पानी के लिए देखती, कुलियों ने एकादशी का सामान उसके सामने रख दिया था। ऐटेचीगें लोटा था। उसमें पानी था। वह

स्त्री बार-बार उसी ओर देखती थी—साथ ही एकादशी को। किन्तु उसे भरोसा न था।

उसी समय अनन्त ने एकादशी की ओर देखकर कहा—'बाहर क्या देखती हो इधर देखो। यह सामने बैठी औरत परेशान है……माँ बनकर दुःखी है……'

यह बात सुनकर एकादशी ने अनन्त की ओर देखा। मानस में धुएँ की तरह छाया आँखों में उतर आया। जैसे वह ओस की बूँदों से भीग कर भारी हो गया हो। मन में कह रही थी, यदि सुनील बाबू होते तो क्या ऐसी अवस्था आने देते! ऊँचे दर्जे के टिकिट खरीदते और उस मजिष्ट्रेट के पास जा बैठते…एक यह अनन्त है, नौकरों की तरह सामान उठाता है…यहाँ आकर बैठ गया है। जहाँ न किसी को बात करने का शऊर है…न बैठने का…सब जंगली हैं!

किन्तु जब उसने उसकी ओर देखा तो वह बोला—'एकादशी, क्या सोचती हो…क्या देखती हो?'

एकादशी ने आँखें मूँद लो और बोली—'क्या देखूँ…क्या सुनूँ?'

ठीक इसी समय स्त्री ने एकादशी और अनन्त की ओर देखा। अनन्त ने दादा से पूछा—'पानी है क्या?'

दादा—'है'

'जरा इस बहिन के कपड़े धुलवा दो न भई।'

दादा—'पानी तो पीने का है, भैया!'

'हाँ, भाई! हम नहीं पीयेंगे।'

जरा उस पर तरस खाओ।

दादा उठा और औरत के कपड़े धुलवा दिये।

अनन्त ने एकादशी से कहा—'शायद तुम इस डिब्बे में पहली बार

बैठी हो। लेकिन देखो, आधे से अधिक रुपये टिकटों के बचे हैं, मैंने यही ठीक समझा। लेकिन तुम यहाँ बैठ नहीं पा रही हो, परेशान हो। तुम गाँव में और गरीबों की दुनिया में तो पैदा जरूर हुई हो, पर वहाँ से अब तक सम्पर्क नहीं रहा। इसलिये समाज की समस्याओं को नहीं समझती। तुमने जनता की पवित्र आत्मा को नहीं देखा। पैसों के स्वार्थ ने हमें यही सिखाया है।' उसने साँस खींच कर फिर कहा—'काश, हम जानवर होते! पैसा पाकर ही आदमी बनावटी हो गया है। उसने स्वान्तः सुखाय का अर्थ ही गलत लगा लिया है।'

अनन्त ने कुछ देर रुकनेके बाद फिर कहा—सामने की स्त्री की विवशता को क्या किसीने नहीं अनुभव किया ? तुमने भी नहीं किया! यह बच्चा सब का है...हमारा भी है, तुम्हारा भी है। स्त्री का सम्मान करना हर इन्सान के लिये आवश्यक है। अच्छा, टिकटों के बाकी रुपये जो बचे इनका एक सदुपयोग भी है। हम यहां बैठे तो क्या...वहाँ बैठे तो क्या!' कहते कहते वह मुस्कराया और एक भावनामयी दृष्टि से एकादशी को एकटक देखने लगा।

एकादशी भी मुस्करायी। वह भी स्निग्ध आँखों से उसे देखने लगी।

दादा—'बिटिया, खाना खालो ना'

'भूख तो लगी है।' अनन्त ने कहा। 'लेकिन पानी ?

एकादशी ने अनन्त की ओर देखा। अनन्त हँस पड़ा।'

एकादशी बोली—'यह तो उदारता का फल है!'

अनन्त ने लापरवाही से कहा—'ओह! मैं भूल गया था। अच्छा दूसरा स्टेशन आने दो।'

एकादशी ने मर्म भरी दृष्टि से मुस्करा कर देखा और फिर खिड़की से बाहर अनन्त आकाश, दौड़ते पेड़-पौधे, प्रकृति के हरे-भरे दृश्य देखने लगी।

अनन्त—'मैं अयोग्य हूँ एकादशी, भूल कर सकता हूँ। तुम ऊँचे समाज में बैठती हो। मैं नहीं सोच पाता कि तुम मुझे साथ क्यों ले आई? उसका गला भारी हो गया। वह भी खिड़की से बाहर के भागते जंगल के पेड़ देखने लगा। क्षणभर बाद वह फिर बोला—'यदि इन्सान समझ ले कि उसके अनुरूप ही दुनिया का रंग-रूप नहीं है, तो न्याय करने लगे। तुम अभी साधारण सभ्यता से बहुत दूर हो। मुझे पता था कि तुम ऊँचे क्लासके डिब्बेमें बैठकर सफर करती हो। पर मैं ऐसा नहीं कर सका। मेरे साथ आने का अर्थ ही यह है कि तुम वास्तविकता को समझो। मैं पैसे से बनी दुनिया नहीं देखता, मैं जर्जर और क्लेष्ट मानव की आत्मा का हा-हाकार सुनता हूँ.......ऐसे इन्सान का आन्तरिक सौन्दर्य देखता हूँ। मुझे यही प्रिय है।'

एकाएक विनीत भाव से एकादशी बोली—'मुझे क्षमा करो।'

अनन्त—'तुम धीर और गम्भीर बनो, एकादशी! पैसे से सजा हुआ इन्सान मत बनो। जरूर पैसों में बल है, वह ऊपर उठता है। पर हवा का रूख बदलते ही जमीन पर भी जा गिरता है। कल जब तुम्हारे पास जमींदारी नहीं रहेगी, जानती हो तब कौन तुमसे बात करेगा? इस अनन्त के समान क्या और कोई तुम्हारी आत्मा का सौन्दर्य देखेगा? न कभी नहीं।.......'

आतुरता से एकादशी बोली—'नहीं-नहीं, तुम जो कुछ कहोगे, वही होगा......!'

अनन्त गम्भीर था।

एकादशी ने कहा—'मैं तो तुम्हारे आश्रित हूँ। तुम पुरुष हो, मैं नारी हूँ। मैं यही चाहती हूँ कि तुम मुझ पर शासन करो। मेरी त्रुटियाँ दूर करो। लेकिन तुम तो मेरी प्रशंसा करते रहते हो। तुम सदा

भावना से भरे बोलते हो। जानते हो, जब इस काल में तुम मुझे अपने अनुरूप नहीं बना सके, तो क्या.......'

अनन्त के धीरज का बाँध टूट गया। उसने एकादशी का हाथ पकड़ लिया। इसी अवस्था में वह बोला—'अच्छा, आओ, कुछ खालो। भूख लगी है।'

एकादशी ने कहा—'जरा ठहरो, अगला स्टेशन आये तो पानी मिलेगा।'

स्टेशन आया। दादा पानी ले आया। उसने खाना उन दोनों के सामने रख दिया। एकादशी ने देखा कि सामने बैठी स्त्री का बच्चा उसकी ओर देख रहा है। उसने एक लड्डू लेकर उसे देना चाहा। वह स्त्री सकुचायी। किन्तु एकादशी ने वह लड्डू बच्चे के छोटे-छोटे हाथों पर रख दिया।

अनन्त बोला—'बहुत ठीक। मैं कहता था न, तुझमें भावना है, दया है, पर उसे चाँदी के आवरण ने ढँक दिया है।'

एकादशी ने आँखें तरेर कर कहा—'अच्छा, अच्छा! तुम खाना खाओ।'

अनन्त—'मैं तो चाहूँगा कि खाना स्वयं ही बनाया करो।' उसने कहा—'इस यात्रा में या तो मैं तुम्हारे अनुरूप बनूँगा, या तुम मेरे! यह हमारे जीवन का एकांत प्रवास होगा—मधुर और सलोना।'

हँसकर एकादशी बोली—'तुम एक पहेली हो, न समझने योग्य!'

अनन्त—'न, न, मुझे समझना आसान है। जो कुछ है, वह ऊपर है, अन्दर कुछ नहीं।'

'अच्छा, क्या लोगे? पूड़ी या लड्डू?'

तुम भी तो खाओ।

एकादशी खाने लगी। जब खा चुकी, तो बाहर की ओर देखती हुई मन ही मन बोली, ऐसा है, यह अनन्त! निखालिस दूध के फेन सरीखा! मैं इसे कहाँ से और किस ओर से पाऊँ! कैसे पकड़ूँ! यह सभी ओर से अजेय और असाध्य है। भला कहीं आड़ है इसमें! न यह तो चारों ओर से चमकीला और चिकना है.........

एकादशी प्रसन्न थी। अनन्त की कल्पना में लीन थी।

: २१ :

अनन्त जानता था कि एकादशी उन कुलीन-वर्ग की लड़कियों के समान नहीं जो पश्चिमी सभ्यता के रंग में रंग कर देश, धर्म, संस्कृति का मान न करती हो। हरिद्वार पहुँचकर, जब वे स्नान करने गये, तो एकादशी ने बड़ी श्रद्धा और भक्ति से गंगा को पहले प्रणाम किया। फिर बाद में गंगा की पूजा की। फूल प्रवाहित किया। दादा ने कुछ कहा और वह अनन्त की ओर देखने लगा।

अनन्त ने पूछा—'एकादशी, क्या है?

दादा—'भैया, हरिद्वार आये हैं। बिटिया के हाथ से कुछ पुण्य करा दो।'

अनन्त ने बात समझनी चाही। उस समय एकादशी लाल किनारे की सफेद दूध—जैसी धोती पहिने थी। जूड़ा खुला था। माथे पर चन्दन की बिन्दी थी। बड़ी शोभनीय लग रही थी। अनन्त ने पूछा—'कुछ पुण्य करना है.......?'

एकादशी—'तुम जानो!'

'नहीं बताओ।'

एकादशी चुप थी। गंगा की धारा देख रही थी।

अनन्त ने कहा—'पुण्य करने से पूर्व उसकी परिभाषा जान लेना ठीक है। हम कितने गन्दे समाज में हैं, उसका बीभत्स रूप क्या है? देखो। पुण्य क्या है, हमने नहीं समझा। हम स्वर्ग की कल्पना में अधीर हैं। ब्राह्मण और भिखारी हमारी दुर्बलता का लाभ उठाते हैं। मैं यह परिपाटी पसन्द नहीं करता। मन्दिरों के ऊँचे बूर्ज, कलश सभ्यता का स्मरण कराते हैं, परन्तु इनसे कुछ समाज प्राप्त नहीं कर सका। पत्थर का देवता, पत्थर ही बना रहा। इन्सान ने उसे ममता और दया का प्रतीक नहीं माना। इसीसे मैं इन तीर्थ स्थानों को जीवित नर्क मानता हूँ......पापाचार के अड्डे! पुण्य और धर्म यहाँ कहाँ? क्या हम कभी खोजते हैं! वह देखो सामने भिखारियों का झुण्ड अपनी कला में कैसा प्रवीण है! ये सिद्धहस्त हैं। इनके पास सम्पदा है। इनमें जुआरी, शराबी और स्त्रीलोलुप सभी हैं......चोर और डाकू भी तुम्हें इनमें मिल जायेंगे! किसी नारी के आभूषण उतारने में खून करना भी पसन्द करेंगे! सभी भिक्षा-वृत्ति के दास हैं। हाय! यह कैसी दुर्बल और निस्तेज कल्पना है कि धनवान इन्हीं को भिक्षा देकर स्वर्ग जाना चाहते हैं......वे जीवन भर समाज का शोषण करते हैं, तीर्थ क्षेत्रों में भी जाकर शोषण करते हैं, मूर्ख बनाते हैं! जिन्हें इन्सान की दया और भिक्षा चाहिये, वे यहाँ नहीं। वे हाथ नहीं फैलाते। वे देश की आत्मा और गौरव के प्रतीक हैं। उन्होंने देश को सजाया है......जीवित रखा है। तुम जो कुछ दो उन्हीं को दो। तुम किसानों और मजदूरों की सेवा करो, एकादशी! वह समाजही तुम्हारा तीर्थ है।,यह कह कर वह आगे बढ़ गया।

उसी समय दादा के पास आकर कहा—'क्यों बिटिया, कुछ लाऊं ! मिठाई पूरी ?'

अनन्त 'हँसा—अभी यहाँ रहना है, दादा ! इकट्ठा भुगतान कर दिया जायेगा।'

दादा ने मर्म समझा। वह चुप हो गया। किन्तु अनन्तने देखा कि बूढ़ा सहमत नहीं है। वह रुका एकादशी की ओर फिर देखा और बोला—'कुछ मँगा लें क्या ? बाँट देंगे।' लेकिन उसके मुँह से फिर निकला—'पर यह क्या अच्छा है ? मनुष्यता के पाप का प्रदर्शन। छिः ! कैसी हीनता है।'

एकादशी हँस पड़ी बोली—'चलो घर चलें।'

'नहीं' कहता हूँ कुछ मँगा लो। मैं लाऊँ ? पाँच-दस रुपये की बात है। दादा चाहता है। तु भी। फिर भी मेरे कारण क्यों यह पुण्य-कार्य रुके।'

एकादशी फिर हँस पड़ी, बोली—'तुम भी विचित्र हो ! न उल्टे, न सीधे ! तुम्हारी सहमति और असहमति दोनों समान हैं।' उसने साँस भरी और फिर कहा—'कल तुमने ही तो कहा था कि मुझे तुम्हारे अनुरूप बनना है। ठीक है, जब मैं तुम्हें अपने रंग में न रंग पाई, तब तुम्हारा ही रंग रहा।'

अनन्त ने कहा—'एकादशी, आदमी दुर्बल है।, वह अपने अन्दर सदा पाप का सृजन करता है और उसीसे डरता भी है। पुण्य करने की बात सोचता है। इन चाँदी-सोने के ठीकरों से पानी उतार कर वह आत्मा का मैल धोना चाहता है। जो हाथ पसारता है उसे कुछ देते इस इन्सान को अच्छा लगता है। और यह कोई नहीं स्वीकार करता कि यह भिखारियों का दल पूँजीवाद की कीच है, जिसे शरीर से उतार कर फेंक दिया गया है। इसमें सड़न है। पीब है। समाज का दम घुटा

जा रहा है······मानव कितना विवेकहीन है, इसका स्वरूप यहाँ भी दिखायी देता है।'

उस समय एकादशी प्रसन्न भाव में अनन्त की बात सुन रही थी। धीरे-धीरे वे डेरे पर पहुँचे। अनन्त विस्तर पर पड़ गया। एकादशी उसी के पास चटाई पर बैठ गयी। अनन्त उसीको देखने लगा। वह बोला—'बालों में तेल डाल लो। कंघी कर लो।'

एकादशी मुस्करायी—'तुन्हें अच्छा लगेगा ?'

अनन्त बोला—'हाँ, क्यों नहीं।' तुम मुझे सौन्दर्य का विरोधी समझती हो। इसीलिए यह वेश मुझे सलोना और मुग्धकारी लगता है। गंगा का यही प्रवाह है। यदि कोई कहे तो मैं पहिले तुम पर ही फूल चढ़ाऊँगा·······'

एकादशी ने कहा—'बस! बस! जमीन पोली है। मैं धरती में समा जाऊँगी·······इतनी बड़ी बात क्या सह सकूँगी ?'

अनन्त—अच्छा होता कि तुम इसी प्रकार मेरे सामने बैठी रहो। जब मेरा अन्त समय हो, तो तब तुम इसी तरह मुस्कराती रहो!'

एकादशी—'यही कहोगे········यही करोगे ?'

अनन्त फिर नहीं बोला।

दादा आया। बोला—'भैया, क्या खाना लाऊँ ?'

अनन्त—'कुछ भी।' यह कहते हुए उसने बटुआ निकाला और एकादशी के सामने रख दिया।

एकादशी ने कहा—'पण्डित को साथ ले जाओ। साग, पूरी और कुछ मिठाई ले आओ।' और दस रुपये का नोट दे दिया।

जब दादा चला गया तब एकादशी बोली—'कल मसूरी चलें ?'

'अभी ही ?' यहाँ भी तो देखना है। अभी वहाँ ठंड होगी। इस मास के अन्त में लोगों का वहाँ जाना आरम्भ होगा।'

एकादशी—यहाँ कलकल है। भीड़ है। मसूरी अच्छा रहेगा।

'तुम्हें मसूरी पसन्द है,—क्यों ?'

एकादशीने कहा—'एक बार पिताजी के साथ गयी थी। भला लगा था।'

अनन्त—'वे सभी स्थान विलास के अड्डे हैं। धनिकों ने सभी गन्दे कर दिये हैं। समाज की वासना वहाँ भी गन्दी नाली के पानी की तरह सड़ती है। अधिक बीभत्स है।'

एकादशी—'मसूरी में तुम्हारा स्वास्थ्य सुधर जायेगा। तुम अपना ध्यान नहीं रखते। आज कुरता बदलना। उस बक्स में हैं, तुम्हारे कुरते !'

आश्चर्य से अनन्त बोला—'मेरे कुरते ! कैसे हैं देखूँ !'

एकादशी—'मैंने सिलवाये हैं। कुछ बनारसी सिल्क के, कुछ खद्दर के।'

अनन्त बक्स तक गया। एकादशी बोली—'ठहरो, मैं दिखाती हूँ।' और पास जाकर उसने बक्स से एक दर्जन कुरते, कुछ टोपियाँ, रूमाल और धोतियाँ निकालकर सामने रखीं। अनन्त बोला—'ये सब मेरे लिये हैं ?'

एकादशी ने कहा—'और क्या मेरे लिये ?'

'ओह, मैं भी सोचता था, इतना सामान क्यों है ? इतने कपड़े तो मैं जीवन भर में भी नहीं पहन पाऊँगा एकादशी ! और इतने कीमती··· ऐसे मुलायम और चमकदार ! बापरे बाप !' कहते हुए अनन्त फिर बिस्तरे पर जाकर बैठ गया। एकादशी ने बक्स बन्द कर दिया। उसमें से एक कुरता, धोती और टोपी को निकाल दिया। पास आकर उसने कहा—'क्यों, पसन्द नहीं आये ? मसूरी में और बना लिये जायेंगे।'

'हाँ, क्यों नहीं बना लिये जायेंगे। अब यह अनन्त जमींदार की बेटी का कृपा पात्र भी है। इसे सजना और बाबूजी बनना ही चाहिये। यही शोभा देगा। भला तुम्हारे साथ इसका यह बेढंगा वेश कैसे निभेगा। तुम ठहरीं जमींदार की बेटी, सुशिक्षित और ऊँचे साहब बहादुरों में बैठनेवाली, आखिर मेल कैसे हो?' अनन्त ने मुस्करा दिया।

एकादशी ने कहा—'कपड़े काटते नहीं हैं। इन्हें आदमी ही पहनते हैं।'

अनन्त बोला—'तुम मुझे जिस साँचे में ढालना चाहती हो जरूर ढालो। पर यह समझ लो, आज का अनन्त फिर नहीं रहेगा। इसका पतन हो जायगा.......मर जायेगा! समझती हो, मैं तुम्हारे लिये क्या सोचता हूँ,—तुम पूजा की निधि हो, सुगन्धित हो, वासना की भट्ठी में झोंक देने की नहीं! शायद तुम यही पसन्द करती हो। वह कम्बख्त, सुनील भी यही चाहता है। कुत्ता हड्डी चूसना ही पसन्द करता है! तुम्हारे समान मैं भी वस्तु की उपयोगिता मानता हूँ। धन का भी आदर करता हूँ। आज इस तीर्थ में मैं तुमसे कहता हूँ कि मैंने सदा यही चेष्टा की है कि तुमसे दूर रहूँ......तुम्हारी वास्तविकता नष्ट हो रही है! इसीलिए मैं बेचैन हूँ। तुम्हारा काम हँसाना ही है, सजना ही है। मुझमें और तुममें अन्तर यही है कि तुम 'एक' हो, उसीमें लय होना चाहती हो, और मैं इस विश्व की अनेकता में खो जाना चाहता हूँ। मैं चाहता हूँ कि तुम उसे समझो। लेकिन नहीं, कहीं यह न कहो कि अनन्त ने मेरा नाश कर दिया!......यह सुहावना जीवन झकझोर दिया!'

एकादशी ने देखा कि अनन्त अपनी बात कहते अत्यधिक गम्भीर हो गया है। उसने कोई नई बात तो कही नहीं, पुरानी बातें ही दोह-राई हैं। बोली—'मैं तुमसे कुछ लेना ही तो चाहती हूँ।'

अनन्त बिस्तर पर पड़ गया। बोला—'मेरे पास क्या है? जो है, तुम्हारा हो तो है, तुमने समझा नहीं, देखा नहीं। पर इतना समझो, पैसा कीमती है, उसका महत्व है। तुमने व्यर्थ ही इतने कपड़े सिलवा दिये।'

एकादशी बोली—'मुझे पता था कि तुम यही कहोगे। पर ये सभी तुम्हारे अनुरूप हैं।'

अनन्त हँस पड़ा, बोला,—'तुम मुझे भी 'बाबू' देखना चाहती हो? अच्छा!'

उसी समय खाना आ गया। एकादशी ने पण्डित से कहा—'यहाँ रखो।'

एकादशी ने सभी के लिये खाना परोसा। एक-एक को दिया। उसने अपने अनन्त के लिये भी परोसा। अनन्त ने दादा से पूछा—'हरिद्वार पहले कभी आये हो?'

दादा—'बड़े मालिक के साथ आया था।'

अनन्त बोला—भाग्यशाली हो। बड़े आदमी के साथ रहकर बड़ी-बड़ी जगह देख चुके हो।'

'तुम भी भाग्य को मानते हो?' एकादशी ने पूछा।

'हाँ, हाँ, क्यों नहीं! किन्तु मैं अभी अन्धा नहीं बन पाया।' अनन्त बोला।

एकादशीने कहा—'यह बून्दी खाओ। हरिद्वार में अच्छी बनती है। यह रसगुल्ला भी नहीं खाया। लो।'

अनन्त बोला—'मैं इससे मोटा नहीं हो सकूँगा। बीमार पड़ जाऊँगा।' फिर तुम मसूरी के पहाड़ों की सैर भी न कर सकोगी।'

'बस, बस, खाने की ओर देखो। जब तुम बोलते हो, तब क्या सुग-

मता से रुक पाते हो !' एकादशी बोली—'हमारा साहित्य भी ऐसे ही गीत गाता है। संसार असार है, सब झंझट है। बस, इसीका तो उपदेश दिया जाता है।'

दूर बैठे दादा और पण्डित भी हँस पड़े। उन्हीं की ओर देखकर एकादशी ने कहा—'दादा, सुनते हो, अपने अनन्त भैया की बात! आये देर न हुई कि लगे बीमार पड़ने! भला इनका बोलना कभी रुका है। वह तो तब है कि जब मुँह खाना चबाने का काम कर रहा है। हाथ भी चल रहे हैं।' और तभी उसने प्रसन्न भाव में अनन्त को सम्बोधित किया—'अच्छा, महाराज! तुम्हारी बातें शिरोधार्य! बतलाओ और क्या चाहिये?'

अनन्त ने कहा—'कुछ नहीं।'

'और पण्डितजी तुम्हें?'

दादा ने भी कहा—'कुछ नहीं बिटिया।'

'नहीं' मिठाई लो।' और एकादशी ने उन दोनों को मिठाइयाँ दीं।

पण्डित बोला—'बस, मालकिन!'

'वाह' अभी ही! तुम कैसे ब्राह्मण हो!'

अनन्त उठ खड़ा हुआ। एकादशी ने खाना समाप्त कर दिया। जब अनन्त फिर बिस्तर पर पड़ गया तो वह अखबार देखने लगा। एक मासिक पत्र को एकादशी की ओर बढ़ाकर बोला—'लो, पढ़ो। इसमें मेरी भी रचना है।'

एकादशी ने कहा—'यह जरूरी है कि तुम्हारी रचना पढ़ी जाय, पसन्द की जाय।'

अनन्त ने कहा—'इतना समझता हूँ कि तुम पढ़ोगी जरूर!'

एकादशी भी अपने बिस्तर पर पड़ गयी। उस कमरे के पास ही

दूसरा कमरा था। जहाँ दोनों नौकर थे। वे भी आपस में बातें कर रहे थे। अखबार को खोलती हुई एकादशी बोली—'एकबार इसी पत्रमें तुम्हारी रचना पढ़ी थी, अच्छी थी। वह कहानी शायद किसी विधवा पर लिखी थी। उस समय मेरे मन में बात आई कि तुम पुरुष को स्त्री से निम्न मानते हो!'

अनन्त बोला—'यह पक्ष मेरा आज भी है। आदमी दुर्दान्त है। दुर्गम है। कठोर और क्रूर भी है।' 'पर मैं नारी को भी कम दोषी नहीं मानता। धनिक का स्वभाव है कि अपनी आवश्यकता की पूर्ति के हेतु निर्धन का शोषण करता है। उसी प्रकार पुरुष नारी को ठगता है। नारी पतन के गड्ढे में डाल दी गयी है। समाज किसान को अन्नदाता अवश्य कहता है। परन्तु स्पष्टतः उसीका संहार किया जाता है। पुरुष भी नारी को 'मा' सरीखे उच्च पदपर प्रतिष्ठित करता है। दोनों ठगे गये हैं·········दोनों के प्राण मसले गये हैं·······।'

अनन्तने बाहर झाँकते हुए कहा—'किन्तु इस चित्र का एक दूसरा पहलू भी है। वह भी भयानक है। नारी भी अपने-आप में हीन है, कायर है। वह सदा पुरुष की कल्पना करती है। उसीमें गौरव मानती है। नारी ईर्ष्या और द्वेष की साकार प्रतिमा है। किसान तथा मजदूर तो देर से निकम्मा बन चुके हैं। सदियों से पिसते रहकर वह गौरवहीन हो गये हैं। उनमें न प्रेम है, न सहृदयता और न स्वत्व की रक्षा की भावना।'

एकादशी बोली—'गरीबी पाप है। छलना है।'

आतुर अनन्त बोला—'हाँ, हाँ, यही बात है। मैं स्वयं यही मानता हूँ। यह भी अजीब सामञ्जस्य है कि नारी अपनी रूप की परख पुरुष के निकट बैठकर करती है। उसने पुरुष को भौंरा समझा है और वह स्वयं

कली बन गयी है। वाह-वाह ! यह कैसा संयोग है। लगता है कि यही प्रकृति-प्रदत्त आशीष दोनों को मिला है। भला क्या कहूँ इसे कि एक साथ दो धाराएँ मिली हैं। नारी प्रणय की आकाँक्षा लिये चिरन्तन से माँ बनने की अभिलाषा भी रखती है। जो नारी अपनी अनुपम सुन्दरता से इस विश्व को मोहती रही, अपनी सुवासित गन्ध से समूचे पुरुष समाज को प्रसन्न और आनन्दित करती रही, वही नारी आज वासना की भट्ठी में जलकर क्षार हुई अपना सिर धुनती है। वह ठगी गयी .... वह चलते-चलते भटक गयी। औरत शमा है, आदमी परवाना; कैसा असंगत और अटपटा व्यापार है यह ! कितना क्रूर ! सच, जैसे निर्मम दूसरों की बात क्या लूँ, मैं जब-जब तुम्हारे पास पहुँचा तो निश्चय ही यह देखने को आकुल बना रहा कि पाऊँ तुम्हारे हृदय का वह विशाल कोना कितना गहरा है कि जहाँ मातृत्व, पत्नीत्व का दरिया ठाठें मार रहा हो। पर देखता हूँ आजकी नारी यह अनुपम देन नहीं दे पाती। उसमें करुणा नहीं है।'

एकादशी बोली—'वह तुम देख नहीं पाते। खोजते नहीं हो ?'

अनन्त ने कहा—'मैं अपनी अनभिज्ञता को मानता हूँ। पर गुड़िया बनी दीन और दुखिया नारी सचमुच दया की अभिलाषिणी है। वह निरी कंकाल बनकर बच्चे चाहती है। जीवन भर इसी भूख से पीड़ित हुई अपना लावण्य और माधुर्य खो बैठती है ! वह नित-नित सहमी हुई, भेड़िया बने हुए पुरुष की वासना का शिकार बनती है।'

एकादशी ने साँस भरकर कहा—'अभी यही चलता है। पुरुष और स्त्री का मार्ग अभी संकुचित है। समस्या कठिन है। इसका सुलझाव क्या निकट है ?'

अनन्त गम्भीर रहा। उसने कहा—'पुरुष में जो स्वार्थ और दम्भ

है, वह एक ही बार में उत्पन्न नहीं हुआ। वह सदियों से चला आया है। आज हम जो कुछ देखते हैं, वह ऐसी प्रक्रिया है कि जिसका कभी खण्डन भी नहीं किया गया। पुरुष जो कुछ कहता है, सदा उसके विपरीत चला है।' यह कहते हुए वह रुक गया और बोला—'नारी का यही पाप है कि उसने सभी कुछ स्वीकार किया। वह आज फल-फूल गया है। उसने पुरुष में ही अपना रूप देखना सीख लिया है।'

एकादशी हँसी। बोली—'तुम्हारा मतलब यह कि आजकी नारी बदल जाय। वह पुरुष पर शासन करे, क्यों?'

अनन्त नहीं हँसा। वह बोला—'यह भी गलत भावना है। मैं यह नहीं मानता। अधिकार दोनों के बराबर हैं। एक गाड़ी के दो पहिये हैं।'

एकादशी ने फिर भी हास्य मिश्रित ढंगसे कहा—'मुझे तुमसे यही शिकायत है।'

'तुम्हें तो मुझसे एक नहीं, बहुत सी शिकायतें हैं। सबका क्या इसी जीवन में निपटारा हो सकता है,—नहीं।' यह कहते हुए वह स्वयं भी हँस पड़ा।

: २२ :

संध्या समय टहलने को जब अनन्त कपड़े पहनकर तैयार हो गया तब एकादशी की ओर देखकर बोला—'आज ऐसा परिवर्तन क्यों? मुझे तो यह रेशमी कुरता पहना दिया और स्वयं इस सादी धोती में?'

एकादशी—'यह तुम्हें नहीं रुचती?'

अनन्त—'अच्छा, जरा मुझे तो बक्स दिखाओ।'

'एकादशी ने चावियाँ दे दीं। अनन्तने बक्स खोला। अनेक कीमती साड़ियाँ थीं। अब अनन्त किसे पसन्द करे, किसे नहीं। वह एकादशीसे बोला—'भई, मेरे लिये तो काम बड़ा कठिन है। तुम्हीं चुनो।'

एकादशी खिड़की के पास खड़ी ऊँचे पहाड़ को देख रही थी। उस पर हरे वृक्ष और झाड़ियाँ थीं। वहीं पर एक पेड़ की डाल पर बैठे कबूतर के जोड़े को देखा। दोनों चोंचें मिलाये बैठे थे। वे बड़े तन्मय थे। उनके उस अमर-सुख की कल्पना में लीन होकर मानों क्षण भर के लिये वह कहीं दूर पहुँच गयी।

ये कितने सुखी हैं······कितनेतन्मय······एकादशी ने अपने आप कहा! उसने आतुर और भाव-भरी आँखों से दूर तक देखा।

अनन्त ने कहा—'एकादशी, क्या सोचती हो? तुम्हीं अपने अनुरूप साड़ी चुनो।'

एकादशी को अनन्त विनती कर रहा था। वह आज इतना सहृदय हुआ आतुर है। एकादशी उसका अनुरोध नहीं टाल सकी।

अनन्त बोला—'इतनी साड़ियाँ ले आई हो!'

एकादशी—'नहीं, इन्हें बाँट दूँगी।'

अनन्त एकादशी के इस भाव परिवर्तन से एक अजीब सा अनुभव करने लगा।

एकादशी को लक्ष्य किया। लेकिन वह बाल सवाँरने चली गयी।

दादा कमरे में आया और उन साड़ियाँ को देखकर बोला—'यह क्या बिटिया!'

बिटिया ने कहा—'इन अनन्त महाराज से पूछो।'

दादा जैसे सभी कुछ समझ गया। वह बोला—'यह गुलाबी रंग की साड़ी भी खूब है। कस्तूरी रंग का पल्ला है। तुम्हें पसन्द आई, अनन्त भैया!'

अनन्त ने कहा—'यह जामनी रंग की मुझे पसन्द है। पर कहा नहीं। सोचा, एकादशी को पसन्द न हो। इस साड़ी का सुनहरी पल्ला भी खूब है।'

यह सुनकर एकादशी ने अनन्त की ओर देखा। उसने बरबस मुस्करा दिया। सभी साड़ियाँ बक्स में रख दी और वह जामनी रंग की साड़ी पहन ली। सचमुच, उसे यह अच्छा लग रहा था कि आज जीवन में पहिली बार वह अनन्त द्वारा पसन्द की गयी साड़ी पहन रही थी। अनन्त देखेगा और प्रसन्न होगा। वैसे अनन्त का मन ऐसा आजही नहीं देखा। उसने पहिले भी वस्त्रों पर अपना मत दिया था।

जब एकादशी साड़ी पहनकर, बाल सवाँरकर और माथेपर एक बिन्दी लगाकर चलने के लिये प्रस्तुत हुई तो वह अनन्त को अपनी ओर देखता पा लजा गयी। उसके गालों पर लाली दौड़ गयी। आँखें झुक गयीं।

किन्तु अनन्त जैसे मचल गया। दादा बाहर चला गया था। अनन्त ने एकादशी की झुकी हुई ठोढ़ी पकड़ ली और मुँह ऊपर उठाकर बोला—'जरा देखो तो! यही पर समाँ है कि जब आदमी खो जाता है और अपनी सुध-बुध भूल जाता है।'

एकादशी ने चंचल बनकर कहा—'हाँ, हाँ, भूल जाता है, कोई! चलो चलें।'

वे दोनो गंगा किनारे पहुँच गये। जब वे जनसमूह को पार कर आगे बढ़े तो एक भिखारिन सामने आई।

बलात् अनन्त ने पूछा—'क्या बात है·······क्या?'

उसने कहा—'बाबूजी, यह जोड़ी सलामत रहे! इसी प्रकार हँसती रहे!'

'हाँ, भाई ! तुम पैसा चाहते हो, लो !' यह कहते हुए अनन्त ने जैसे ही उसे एक आना देना चाहा, तो देखा कि वह रो पड़ी है।

यह देख, बरबस अनन्त का मन अकुला गया। जैसे किसीने उसके हृदय में कुछ चुभो दिया। देखा कि स्त्री अधिक आयु की नहीं है। युवा है। किन्तु जर्जर है। जैसे किसी गहरे सन्ताप और क्षोभ के कारण वह उस स्थिति को पहुँच गयी है। उसका बच्चा, उसके कन्धे पर मुँह रखा सो गया है। वह सुन्दर है, गोरा सलोना है।

अनन्त बोला—'रोती हो !' फिर उसने एकादशी से कहा—'इससे बात करो न ! लगता है कि इसके पास भी कोई समस्या है।'

एकादशी कुछ कहना ही चाहती थी कि वह स्त्री भभूखा खाई-सी जाने किस वेदना से भरी वहाँ से हट गयी और आगे बढ़ गयी।

एकादशी ने कहा—'अरी, सुन तो ! ले, यह रुपया······'

'न, बहिन ! मैं नहीं······नहीं·······'

'अजीब औरत है !' एकादशी ने जैसे रुक्ष बनकर कहा—फिर यहाँ आई क्यों ? मुँह देखने आई······चुड़ैल······'

किन्तु उस समय अनन्त जैसे भारी कोलाहल से भरा था। उसके सामने क्षितिज में सूर्यदेव अपनी सुनहरी किरणें आकाश में फैला रहे थे। वह दृश्य अच्छा लग रहा था। लेकिन स्वयं अनन्त का मन उद्विग्न था। कातर भी बन गया। जैसे बरबश ही उसमें कम्पन भर गया। वह सोचने लगा, बात कुछ है। कोई इतिहास है इस स्त्री का। जिसे जानने के लिये वह व्याकुल हो गया।

एकादशी बोली—'बच्चा भी सूखा और दुर्बल बना था।'

अनन्त ने कहा—'आओ, लौट चलें। आगे राह नहीं है।'

एकादशी ने कहा—'वह स्त्री वहाँ जा बैठी है। देख रही है। आओ,

चलें।' यह कहते हुए वह आगे बढ़ी। अनन्त भी चल दिया। वहाँ जाकर एकादशी ने कहा—'तू भिखारिन कैसे बनी? कैसे आई, इस गंगा घाट पर?'

बात सुनी तो स्त्री ने गंगा की गहराई की ओर देखा। उसी ओर देखती हुई, वह बोली—'मैं भिखारिन तो नहीं थी। शायद तुम्हारी जैसी थी······हाँ, मैं भी भली कहलाती थी।'

एकाएक जैसे विचलित बनकर एकादशी ने कहा—'तो—?'

वह घूटते ही बोली—'अब क्या रहा······जीवन बिगड़ गया······ धर्म गया, जीवन ही चला गया······'

अनन्त मौन खड़ा था। बात सुनी, तो एकादशी ने कहा—'तू मुझे बता। कुछ कर सकी, तो करूँगी। तेरा पति है?'

'नहीं।'

'और अन्य कुटुम्बी?'

'मेरा अब कोई नहीं है, बहिन! नीचे धरती है, ऊपर आकाश है।' उसने एकादशी की ओर देखकर कहा—'मैं कई दिन से भूखी हूँ। देखती हूँ कि मेरा यह बच्चा भी मर जायेगा। मेरी आँखों के सामने ही चला जायेगा।' और उसने जैसे भुँझलाकर कहा—'यह मर ही जाये तो ठीक! बेचारा यों तो न तड़पेगा! यह जायेगा, तो मुझे भी मरने का सुभीता मिलेगा। यही मेरा श्राप है।' कहते हुए उसने घोटों पर सिर पटक दिया। उसने फिर रोना शुरू कर दिया।

उस समय एकादशी सचमुच ही उस नारी में तन्मय हो गयी। वह उसकी अवस्था में खो गयी। उससे पूछी—'पर पाप क्या······तुमने किया क्या?'

'बहिन, मैं विधवा थी,—बाल विधवा! मैं तब यह भी नहीं जानती

थी कि विवाह क्या है ! किन्तु इस जवानी के आते-आते मैं अन्धी हो गयी। एक आदमी के प्रेम में फँस गयी। मेरी यही भूल थी। उस पुरुष ने मुझे धोखा दिया। अपने को अविवाहित बताया। बाद में भेद खुला। वह मुझे नरक में धकेल कर दूर जा खड़ा हुआ ! वह······वह·······'

विचलित बनकर एकादशी बोली—'ओह ! ऐसा पुरुष था, वह ! अच्छा, तुम मेरे साथ चलो।'

स्त्री बोली—'बहिन, मैं आज ही भिखारिन बनी हूँ। मैं गत् वर्ष से अपने घर से दूर हूँ। कई बार सोचा कि इस बच्चे को मार दूँ। पर ऐसा नहीं कर सकी। मेरे मन में जो 'मा' का दिल था, वह जीत गया। मैं अब तक एक दूर के सम्बन्धी के यहाँ थी। अब वहाँ भी नहीं रही।'

एकादशी ने एकाएक कुछ नहीं कहा। उसने उदास भाव से अनन्त की ओर देखा। वह सभी बातें सुन रहा था और गंगा की ओर मुँह किये खड़ा था। वह जैसे पत्थर बना था। बिलकुल पीला पड़ गया था। एकादशी ने बटुवे से पाँच रुपये का नोट निकाला और उस स्त्री के हाथ पर रख दिया। अपने निवास का पता देते हुए उसने कहा—'वहाँ आना। चाहोगी तो तुम्हारा स्थायी प्रबन्ध भी हो जायेगा।' यह कहते हुए वह चल पड़ी। अनन्त से बोली—'आओ, चलें। अन्धेरा आ गया।'

सुनते ही अनन्त चौंक गया। बोला—'चलोगी, चलें।' कहते हुए वह चल दिया।

रास्ते में एकादशी बोली—'सचमुच कठिन है यह नारी का जीवन ! कठोर ! तुम्हारी पढ़ी हुई कहानी का कथानक मैंने साकार पा लिया। अब मुझे लगा कि यह पुरुष नारी के प्रति कभी सहृदय नहीं रहा। निर्दय बना रहा।'

किन्तु अनन्त मौन था। बोल नहीं पा रहा था।

एकादशी ने साँस भरी और कहा—'प्रायः यही होता है। कहीं नारी भी ठगा करती है और कहीं पुरुष उसका सर्वस्व छीन लेता है। इस संसार में यही सब दिखायी देता है।'

अनन्त बोला—'देखती हो, इस गंगा को, कितनी गहरी है। उन्मादनी बनी जा रही है। यह आशीष देती है, प्राण भी लेती है। यही नारी की बात है। वह भी उन्माद में डूबी है.........वासनामयी है! मैं कहती हूँ कि यह नारी क्यों अन्धी बनी! क्यों अपने स्त्रीत्व का समर्पण करने के लिये बाध्य हुई! मेरा बस चले तो इसका गला घोंट दूँ! दुष्टा, अपने पाप का प्रदर्शन करती है.........अन्धी औरत!'

सुनते ही एकादशी ने खिन्न तथा तेज स्वर में कहा—'अनन्त, औरत कृतघ्न नहीं है।'

अनन्त बोला—'तो पुरुष भी नहीं। वह समर्पित होता है।'

'खाक होता है। छलता है। दम्भ का प्रदर्शन करता है! नारी का जीवन बिगाड़ता है।' एकादशी बोली।

अनन्त ने देखा कि एकादशी क्षुब्ध है। वह लाल हो गई है। लेकिन उसने बात को बढ़ाना नहीं चाहा। परिस्थिति को समझ लिया। उसने धीर-भाव से कहा—'इस नारी को स्वावलम्बी बनना था। कोई काम करना था। अपना उपहास नहीं कराना था। पुरुष का दम्भ क्या नया है? नारी ने उसे बढ़ाया है। बाजार में बैठी हुई वेश्या आखिर क्या है? वही समाज के मुँह पर बड़ा तमाचा है। देर से यह आदमी बाजार के पत्तें की तरह औरत को चाटता है और फेंक देता है..........एकादशी! औरत ने स्वयं अपना अस्तित्व खो दिया है। उसने पुरुष की दुर्बलता का लाभ उठाया है।'

एकादशी बोली—'बाजार की औरत पेट के लिये शरीर बेचती है। वह आत्मा का सौदा नहीं करती।'

अनन्त ने सूखे भाव से हँस दिया। फिर बोल न सका।

दोनों घर पहुँच गये। फिर दोनों शान्त हो गये।

दादा ने कहा—'खाना तैयार है।'

एकादशी ने कहा—'ले आओ।'

उसी समय अनन्त मन में कह रहा था—दुर्बल सदा झुकाया गया है। यही नारी की बात है। नारी दुर्बल है और दुर्बल के लिये इस जगत में स्थान कहाँ है?

एकादशी ने साड़ी बदल दी और बोली—'गये थे हरिभजन को, ओटक लगे कपास—घूमना भी नहीं हुआ। तुम्हें गुस्सा आ गया।'

अनन्त बोला—'देखता हूँ आजकल 'प्रेम' शब्द बहुत पुकारा जाता है। मेरा मत है कि, यही उद्दण्ड-वासना की पूर्ति का साधन है। जिसके ऊपर सोने का पानी चढ़ा है, वह अन्दर से पीतल या ताँबा है।'

भोजनोपरान्त अनन्त फिर गंगा किनारे चला गया। थोड़ी देर बाद वह लौटा तब एकादशी बिस्तरे पर पड़ी एक मासिक पत्रिका पढ़ रही थी। अपने बिस्तर पर बैठकर अनन्त ने कहा—'एकादशी, वह स्त्री मर गई। बच्चा भी मर गया। उसने गंगा में डूब कर आत्मघात कर लिया।'

सुनते ही एकादशी के हाथों से पत्रिका छूट गई। उसने छूटते ही कहा—'वह मर गई,—ओह!'

अनन्त बोला—'यही होना था। उसे यही करना था।'

'आत्मघात! अपना और बच्चे का अन्त····राम-राम!'

अनन्त ने साँस भरी और छोड़ दी। फिर उसने कहा—'यह भी होता है। जब वेदना अधिक बढ़ जाती है, तो अपना अन्त करना सूझता है। वह जहरीला धुआँ मन और मस्तिष्क पर छा जाता है!'

एकादशी जाने कहाँ पहुँच गई। वह पीड़ा से चूर हो गई।

अनन्त अपने विस्तरे पर पड़ गया। उसका विस्तरा भी नया था। तकिये पर सिर रखते हुये वह बोला—'इस पाप-पुण्य ने हमें छला है··· धोखा दिया है।' उसने देखा कि बाहर आसमान में तारे निकल आये थे। वे चमक रहे थे। जैसे आसमान फूलों का थाल सजाये खड़ा था। वह प्रथम अवसर था कि जब वह और एकादशी एक कमरे में सो रहे थे। परन्तु उसका उधर ध्यान नहीं गया। कमरे में सन्नाटा था। दोनों मौन थे। एकादशी को मौन देख अनन्त बोला—'क्या उस स्त्री की बात में उलझी हो? छोड़ो उस बात को। ऐसा सर्वत्र होता है। यहाँ तो सभी कुछ पहेली है,—समस्या है। मैंने तो देखा कि गंगा-तट पर आदमियों की भीड़ लगी थी। वह और बच्चा मरे पड़े थे। लाश पुल में अटक गई थी। लोगों ने निकाली। मैं जब पहुँचा, तो पुलिस पहुँच चुकी थी। आश्चर्य कि बचा उस औरत की छाती से चिपटा था। शायद उस बच्चे को लिये ही, उसने अपने को डुबोया था। मातृत्व तब भी उसके पास था।' फिर उसने अपने स्वर पर जोर देकर कहा—'यह पुरुष-स्त्री का व्यापार इस जगत के लिये अमृत भी है, विष भी है। हम किसे पायें··· किसे ठुकरायें··········न, इन दोनों धाराओं में यह जगत बहता रहेगा········'

किन्तु एकादशी ने काँपते हुये स्वर में अपने आप कहा—नारी की यही हीनता है। एक तू भी है कि पुरुष की कल्पना करती है···उसीको अपना आधार मानती है। तेरे पास तो खाने भर को है। पिता की जागीर है।

एकादशी उदास हो गई। उसी अवस्था में वह अपने आप बोली—फिर भी नारी अकेली नहीं शोभती। उसे साथी चाहिये। नारी को धन नहीं चाहिये, उस बेचारी ने अपराध नहीं किया। उचित किया।

अवसर की बात कि सौदा टोटे का रहा। उसे घाटा हो गया। उसे यों···री, एकादशी! उसने अपने आप ही फिर कहा—'यह सौदा तेरे लिये भी घाटे का हो तकता है। सब कुछ पाकर तू भी अभाव भरी है। पुरुष की पूजा करती है। उसी को शिव और सत्य मानती है। तू·······तू·······

एकादशी ने करवट बदल ली और वेदना भरे भाव में बोली—खाक पड़े, इस पूजा पर! पुरुष कुत्ता है, तो नारी कुतिया है। इनका शास्वत आदर्श क्या जीवित रहता है! निःसन्देह एकादशी का मन छटपटा गया। उसके मस्तिष्क की समस्त नसें कठोर बन गयीं। वह सामने की दीवार को घूर कर बोली, ठीक तो कहता है अनन्त, प्रेम झूठा है, दम्भ है, छल है। उन्माद का धूँआँ प्राणों को घोंटता है, अन्धा बनाता है······ और तू है कि सौदा करती है······कभी सुनील के साथ·······कभी इस अनन्त के साथ·······तू भिखारी को राजा बनाने चली है! सजीला और जवान इस अनन्त को बना देना चाहती है! यह भली-बुरी जो बात करता है, तू उसी को सत्यं-शिवम् के रूप में समझती है·······ऐ, एकादशी!

निःसन्देह एकादशी इतनी अधीर बन गयी कि बरबस रो पड़ी। उसकी उन रोती हुई आँखों के नीचे जो हाहाकार उठा था, वह नहीं रुका। उसी अवस्था में वह जैसे चीखकर बोली—'तेरे पास जायदाद है न, भोग के साधन हैं। रूप और माधुर्य है·······हाय! हाय!'

किन्तु इसके बाद ही वह बोली—'अनन्त ने कहा था, यह सभी चला जायगा·······तब! फिर कोई पास नहीं आयेगा। बात नहीं पूछेगा।

थोड़ी देर बाद अनन्त उठकर बैठ गया। वह चौंक गया। उसे लगा

कि एकादशी रो रही है। वह सीधे उसके बिस्तर पर गया और आँखों पर रखी एकादशी की बाँह हटाकर बोला—'रोती हो,—छिः! भला क्यों!'

एकादशी बरबस तड़प उठी। उसने चीखकर कहा—'अनन्त, मैं भी दुःखी हूँ। इस जिन्दगी के रास्ते में मैं भी खो चुकी हूँ! मैं भी पुरुष की कल्पना करती हूँ······मैं तुम्हारी······अनन्त·······'

अनन्त स्वयं आकुल बन गया। उसने देखा कि एकादशी की आँखों में महान क्षोभ है, पीड़ा है। जैसे देर का रुका हुआ उद्वेग उस समय अवसर पाते ही फूट आया है। अतएव, वह स्वयं अधीर बन गया। अनन्त अपने स्वभाव के विपरीत, एकादशी की ओर झुक गया और पीड़ा से भरे, उसके मन सुन्दर होठों पर अपना मुँह रखता हुआ बोला—'मैं तेरा हूँ एकादशी! इस गंगा तट पर कहता हूँ। मैं तुझसे बंधा हूँ। तेरी सुन्दर कल्पना करके ही मैं अपना मार्ग प्रशस्त कर रहा हूँ।' और वह इतना कहते ही, एकादशी की छाती पर अपना मुँह रख ऐसे ढुलक गया कि मानों वह बेजान था, एकादशी को छोड़ उसका और कोई सहारा नहीं था।

उस समय एकादशी की आँखों के आँसू सूख गये। उसने भी इस बात को भुला दिया कि अनन्त जिस प्रकार अपनी और उसकी अवस्था को भूल गया, तो वह उचित नहीं था। आखिर वह पुरुष है, एकादशी नारी है, अविवाहित है। उसने स्वयं अनन्त के मुँह को अपनी छाती से सटा लिया। उसके स्वाँसों पर अपने स्वाँसों को रख दिया। उस अवस्था में ही, वह आकुल बनकर बोली—'अनन्त, तुम मुझे बल दो! मैं भटकूँ तो मुझे पकड़ लो।'

यह बात सुनते ही अनन्त सीधा बैठ गया। उसने एकादशी को छोड़

दिया। वह बोला—'न, एकादशी। मैं स्वयं दुर्बल हूँ। नारी का मैं भी आकांक्षित हूँ। वह शक्ति तुम्हारे पास है। नारी ने सदा इस पुरुष को अभय दान दिया है!' यह कहते हुए अनन्त ने देखा कि बाहर चाँद निकल आया था। पहाड़ की ऊँचाई पर वह दूध के फेन सरीखा फैला हुआ था। मौसम निर्मल और सुहावना था। उसी ओर देखते हुए निरे दार्शनिक की तरह गम्भीर और मौन होकर वह अपने-आप बोला—इस एकादशी ने आज ही एक नारी का दर्द समझा है! आज ही इसे नारी की स्थिति का ज्ञान हुआ है।

अनन्त खिड़की पर पहुँच गया। बाहर की ओर देखते हुए एका-एक ही उसने कड़ुवे और ईर्षालु भाव में कहा—जब पुरुष स्वतः ही भ्रष्ट हो, नारी का आवाहन करता हो, तो नारी का दोष क्या? यही तुम्हारी बात है। तुम भी इस एकादशी के एक प्रेमी हो। तुम भी इसके साथ लगे हो। उस सुनील के लिये स्पर्धा की वस्तु बने हो। तुम जो कुछ करने चले थे, जो अरमान साथ लिये थे, आज वे कहाँ हैं! आज सभी तो कहते हैं कि मैं भी हूँ, उस एकादशी का एक प्रेमी! मुझ में भी इस सुन्दर और कोमल एकादशी को पाने की लालसा है। मुझमें भी प्यास है। तुम अपने यौवन का—इस जीवन का—इसी तरह मूल्यांकन करना पसन्द करते हो। जब यह कहना है, तो ढोंग क्यों? ऊँचे आदर्श, अध्ययन की मान्यता क्यों! तुम लम्पट हो··· धूर्त हो! तुम स्त्री के,—इस एकादशी के रूप और यौवन-प्रवाह में डूब जाना चाहते हो;—लीन होना पसन्द करते हो·······

अनन्त! ओ, अनन्त! उसने कितनी कठोरता से चिल्लाया। अनन्त के दोनों हाथों की मुट्ठियाँ भिंच गयीं। माथे की नसें खड़ी हो गयीं, वह आँखें फाड़कर कभी कमरे में देखता, कभी तारों भरे आसमान की ओर।

उसी समय, पीछे से एकादशी ने उसकी पीठ पर हाथ रखा—'अनन्त——'

किन्तु अनन्त बोला नहीं, वह वहाँ से हटकर फिर अपने बिस्तरे पर पड़ गया। एकादशी भी वहाँ आ गयी। वह बोली—'मैं तो परेशान ही तुम भी……क्या तुम्हारी खोई हुई भावना भी जगा दी! मैं भूल गयी कि तुम्हारे लिये ही मैं बाहर आई। तुम्हारा शरीर और मन स्वस्थ बनने की अभिलाषा लिये आ गयी।' यह कह एकादशी का हाथ अनन्त के पैरों पर चला गया। जैसे बरबस ही एकादशी ने अपने उस गरम हाथ को अनन्त के ठंडे पैर पर रख दिया और कहा—'सच, जब तुम पास होते हो, तो मुझे लगता है, अब किसी की दरकार नहीं……विश्व की किसी वस्तु की नहीं……'

अनन्त फिर भी मौन था। जैसे पत्थर बना था।

एकादशी ने कहा—'लेकिन मैं अपना सर्वस्व खोकर भी यह न चाहूँगी कि तुम अपना ध्येय प्राप्ति न करो……अपने मार्ग को प्रशस्त न बना पाओ। यह तुम भी समझ लिया न कि तुम्हारे पास मैंने जो कुछ देखा है, वह अन्यत्र नहीं पाया। मुझे अभी तक नहीं मिला।'

लेकिन जैसे अनन्त वहाँ नहीं था। उसका अस्थि-पंजर पड़ा था। उसके मन में जो हा-हाकार था, वह दब चुका था। तूफान का वेग उतर गया था। उसने एकादशी का हाथ अपने पैरों से हटा दिया और उस हाथ को अपनी छाती पर रखकर बोला—'एकादशी, मैं कुछ नहीं समझ पाता! मैं हार गया। तूने कहा तो है, पर भूल न जाना। मैं फिसलूँ, मार्ग से भ्रष्ट बनूँ, नदी के गहरे जल में डूबने लगूँ, तो हाथ पकड़ कर रोक लेना……तुम्हीं मुझे सहारा देना……'

एकादशी ने जाने कितने गहरे स्नेह के साथ अपना हाथ अनन्त के सिर पर रख दिया। अपनी ममतामयी आँखें उसकी आँखों पर रख दिया……

: २३ :

लेकिन उस रात अनन्त और एकादशी एकाएक नहीं सो सके। दोनों के मन में करुणा फूटी पड़ रही थी। उनको बेचैन बना रही थी। जब एकादशी अपने विस्तर पर आकर पड़ी, तो उसके मन में बरबस यह बात उठ आई कि आज इस अनन्त ने नारी की जिस रूप में आलोचना की—उसकी भी की—वह उचित नहीं था। उसे लगा कि यह अनन्त जितना ऊपर से साधु है, सरल है, अन्दर से वैसा नहीं है। यह कठोर है। भारी है।

तब क्या हो? इस समस्या का कैसे निपटारा हो? एकादशी के मन में बात उठी—क्या इस अनन्त से सम्बन्ध तोड़ दिया जाय! इसके प्रति जो ममता है, उसे भुला दिया जाय!

कमरे में प्रकाश था। परन्तु बाहर का मौसम सुन्दर लग रहा था। एकादशी अपने विस्तर पर पड़ी हुई देख रही थी कि पहाड़ जैसे चन्द्रमा की चाँदनी में मुस्करा रहा था। वह आँख मिचौनी खेल रहा था। उस पहाड़ पर खड़े छोटे-बड़े वृक्ष भी मुस्करा रहे थे। एक दूसरे के गले में बाहें डाले खड़े थे। यद्यपि एकादशी गाँव की रहने वाली थी, परन्तु उसका जीवन तो महल के बन्द कमरों में बीता था। इसलिये प्रकृति के उस प्रफुल्ल रूप को देख, उसका मानस जिस प्रकार खिलना चाहिये था, नहीं खिल सका और इसका कारण अनन्त था। उस समय कदाचित वह सो गया था। अनन्त ने करवट ले ली थी और मौन पड़ा था। यह देख, एकादशी ने चाहा कि वह उसको जगा दे और कहे, बोलो, तुम मुझे क्या समझते हो··· क्या सचमुच ही तुम मुझे पुरुष की भूखी मानते हो·······स्त्रीत्व से हीन····

यों एकादशी के मस्तिष्क में भूचाल आया। उसके मन में भी कम्पन पैदा हो गया। वह उठकर बैठ गयी और हाथ की हथेली पर ठोढ़ी रखकर यह स्पष्ट देखने लगी कि हाय! वह प्रभु-सत्ता सम्पन्न बनकर भी असहाय है! अकेली है! संदिग्ध है! उसने यह सुगमता से अनुभव किया कि अनन्त उससे सभी कुछ कह चुका है! इसने अपनी मनमानी की है और उसे उँगलियों पर नचाया है·······क्यों? भला किस आधार पर? इसलिये न कि वह अनन्त के प्रति सलंग्न है। अपना मानती है!

बरबस ही एकादशी ने देखा कि उसके बिस्तर पर पड़ा ऐसा लग रहा है कि जैसे निरा सुकुमार·······निरा अल्हड़! जैसे उसको इस दुनिया की कोई सुध नहीं·······कोई ज्ञान नहीं।

किन्तु एकादशी को चैन नहीं। उसके मन में उस शाम को देखी-सुनी नारी का चित्र भी अंकित हो गया था। भला वह वेदना से पूरित कैसा दृश्य था। कितना कठोर! अनायास एकादशी के मन में जहरीला धुआँ घुट गया। वह उसके मानस में ऐंठन पैदा करने लगा। निदान, जब एकादशी अधिक अधीर हुई, तो वह बिस्तर से उठकर खिड़की पर जा खड़ी हुई। वह बाहर की ओर देखने लगी। दूर कहीं से चकवा और चकवी का बोल आ रहा था। सामने खड़ा पर्वत मूक बना था। चन्द्रमा के प्रकाश में उसका सौंदर्य द्विगणित हो गया था। उसके पत्थर भी चमक रहे थे। किन्तु एकादशी के मन में अपने तईं क्रोध था, अशांति थी। उसके मन प्रदेश में जैसे आग लगी थी। उससे एकादशी जल उठी थी। वह छटपटा रही थी।

तभी अपने बिस्तर से उठकर अनन्त वहाँ आया और वह एकादशी की पीठ पर अपना हाथ रखकर बोला—'सो नहीं रही हो! लगता है, तुम अब भी अशान्त हो!'

किन्तु इतना सुनकर भी, एकादशी ने अनन्त की ओर नहीं देखा। उसने बाहर की ओर देखते हुए कहा—'हाँ, अनन्त, मेरे अन्दर पीड़ा है। आज ही मैंने समझा कि नारी सम्पन्न बनकर भी न सनाथ है, न सुखी है! लगता है कि मेरे चारों ओर पीड़ाओं का जाल बिछा है······सन्देह से भरा है, मेरा जीवन!'

लेकिन अनन्त एकाएक ही विस्तर से नहीं उठ आया था। वह देर से एकादशी की मनःस्थिति को देख रहा था। वह सोया नहीं था। इसी-लिये जब उसने बात सुनी तो अपना वह हाथ एकादशी की कमर से हटा कर उसके सिर पर रख दिया। फिर उसने वह सिर अपनी छाती से लगा लिया। एकादशी के मुँह को दोनों हाथों में लेकर वह गहरे ममत्व के साथ उसे दुलारता हुआ बोला—'सच, तू आज भी बच्ची है, एकादशी! कौन कहता है कि तू यौवनमयी है······तू किसी पुरुष की कल्पना करती है···· पगली! आ चल! बचपन की तरह, आज फिर तुझसे बात करने को मन करता है। ताड़ना देना भी सोहाता है। मुझे लगता है कि तेरे साथ दुनिया का व्यवहार नहीं सोहाता। वह न मुझे सोहाता है, न तुझे पसन्द आता है, यह कहते हुए अनन्त फिर एकादशी को उसके विस्तरे पर ले गया। उस पर वह भी बैठ गया। कुछ देर बाद वह उस विस्तर पर पड़ भी गया। उसने एकादशी को भी सो जाने को कहा। उसका सिर तकिये पर रख दिया। तभी अनन्त ने एकादशी के सिर के उन बड़े-बड़े बालों पर अपना हाथ फेरते हुए कहा—'हाँ एकादशी! यह तो सत्य है कि नारी का जीवन अरक्षित है······सम्वेदनशील भी है! पर तेरे लिये ऐसा क्यों···नहीं! वह बोला—जिस नारी की बात तेरे मन में है, उसी के लिये मेरा मत यह है कि वह मूर्ख थी! वह अपने जीवन के महत्व को समझने में असमर्थ थी। अनन्त ने एकादशी के उन रेशम सरीखे बालों में अपनी

अंगुलियाँ दे दीं और कहा—'हमारे समाज में नारी का बड़ा महत्व है। पुरुष नारी को जहाँ भोगता है, वहाँ उसे पूजनीय भी मानता है। बातें दोनों हैं। दोनों का अस्तित्व है।'

किन्तु इतनी बात सुनकर भी एकादशी मौन थी। वह बात करते हुए अनन्त की गरम साँसें अपने मुँह पर आती हुई अनुभव कर रही थी, दोनों की काया निकट तक थी! किन्तु अवस्था यह थी कि दोनों के मन एक-दूसरे से कोसों दूर थे। दोनों के हृदयों में हाहाकार था। रोमाँच भरा था। वह उन्हें उद्वेलित बना रहा था।

अनन्त बोला—'एकादशी, समाज में सभी साधु नहीं बन सकते। प्रकृति की जो माँग है, उसे सभी पाते हैं, पूर्ण करते हैं। तुम भी यदि किसी पुरुष का नियन्त्रण स्वीकार करो, तो क्या बुरा है! सुन्दर नारी को हर पुरुष पसन्द करता है। सुनील इसीलिये तो तुम्हारे पास आता है! और तुम······तुम भी यौवनमयी हो! सम्पन्न हो! जीवन की उद्दाम लहरों पर तैर रही हो! इसी का नाम नशा है, मद है। मतवालापन है।' यह कहते हुए अनन्त का हाथ एकादशी के सिर से हट गया। वह तकिये पर सीधा पड़ गया। उसने छत में लगी जलती हुई बत्ती की ओर देखा और कहा—'शायद यही इस सृष्टि का क्रम है। पुरुष और स्त्री की यही माँग है। यही सर्वोपरि है और इसी का नाम संसार है। भोगों में लिप्त हो जाओ और खो जाओ।' यह कहते हुए अनन्त ने झटके के साथ अपना हाथ फिर एकादशी के वक्ष पर रख दिया और कहा—'पर बताओ, इस अखिल विश्व में ऐसे कितने हैं, जो इस प्रकार का जीवन पाकर भी सुखी हैं। तुमने आज देखा तो उस स्त्री को, उसका बच्चा······क्या तुम भी उस स्थिति को प्राप्त होना चाहती हो किसी से ठगी जाकर आत्म-हत्या करना पसन्द करती हो?

न, एकादशी ! मैं तुम्हें ऐसा नहीं करने दूँगा। इससे पूर्व मैं तुम्हें मार दूँगा...... ऐसा न कर सका, तो स्वयं मर जाऊँगा...... मैं तुम्हारी वेदना को स्वयं पी जाऊँगा। मैं तो तुमसे आज भी कहूँगा कि उस प्रभो को पाओ, उसके दर्शन करो कि जिसने तुम्हारे इस सुन्दर शरीर की रचना की...... यह काया संयोजित की ! तुम रानी हो, रानी रहो ! हँसी हो, तो हँसती रहो। यही तो मैं देखना चाहता हूँ। तुम समाज का घृणित रूप मत देखो, अनुपम और सुहावना देखो, एकादशी !'

एकादशी बोली—'मुझे लगता है कि उस नारी को देखकर मेरा मन चूर-चूर हुआ ? खण्ड-खण्ड हुआ। मुझे ऐसा जीवन नहीं चाहिये।'

अनन्त बोला—"नहीं, एकादशी, उस जीवन का बड़ा मोल है ! यह उसी पर टिका है ! परन्तु उसे समझने की रीत बदल गयी है। आज अवस्था यह है कि पुरुष नारी को शराब समझकर पीता है, वह मदहोश बनता है ! बोलो, क्या यही अवस्था नारी की नहीं है ! हमारे जीवन की शाश्वतता आज नष्ट हो चुकी है। पुरुष ने देर से नारी को अपने मनोविनोद का खिलौना बनाया है और खिलौना टूटता है, तोड़ा जाता है। फिर दूसरा खरीद लिया जाता है। तुमने देखा न रईसों के घर खिलौनों के ढेर लगे रहते हैं...... इसी प्रकार नारी वरण के अंक भी क्या उंगलियों पर गिने गये हैं। किसी राजा की सौ रानी, किसी की हजार...... साठ हजार तक की कथाएँ भी सुनी गयी हैं ! मैं इसी को पुरुष की दुर्नीति मानता हूँ। हम ईश्वर की सम्पत्ति हैं। इस शरीर की कोई व्यवस्था है। इसके साथ कोई संस्कार नियोजित हैं। तब भला एक नारी, या एक पुरुष की प्राप्ति के हेतु उन्हें भुला दिया जाय ! जिसे हम सत्य कहते हैं, शिव की उपाधि से विभूषित करते हैं, फिर उसका अर्थ क्या ! न, एकादशी, हमें उस जीवन को भी देखना है। हमें सम-

मना है कि इस अखिल विश्व के प्रकाश में क्या है? यह चन्द्रमा जाने कब-कब से इस शीतल चाँदनी का प्रसार करता आया है। समझती हो न, यह ऊपर का आसमान निरा खोल नहीं है। उसमें भी एक जगत है। वह भी अलौकिक है। हम भले ही उस जगत के लिये उपादेय न हों, पर यह सौर-जगत हमें नित्य ही जीवन देता है······ऊपर से अमृत की वर्षा करता है······चाँद की चाँदनी और सूर्य का प्रकाश तथा गर्मी प्रदान करता है।' यह कहते हुए अनन्त ऊबकर बैठ गया। वह मौन हो गया।

एकादशी बोली—'यह तो मानती हूँ कि हमारे भी कोई संस्कार थे, शायद पिछले जन्म के संयोग थे, जो यों आ मिले। विपरीत बनकर भी पास-पास हो गये।'

अनन्त बोला—'जीवन भी एक लहर है। हवा का झोंका खाकर मिलता है और फिर दूर हो जाता है! दरिया सूखता है, तो उन लहरों का अस्तित्व भी नहीं रहता। एक दिन हम फिर दूर-दूर हो जायेंगे!'

एकादशी जैसे सहम गयी। बोली—'तो ऐसा है, यह जीवन! इतना क्षणिक!'

अनन्त मुस्करा दिया,बोला—'यहाँ सभी कुछ क्षणिक है, मेरी रानी! पाँच वर्ष बाद तुम्हारा यह रूप भी नहीं रहेगा।'

एकादशी ने कहा—'यह आज ही जाये तो अच्छा है!'

अनन्तने हँस दिया और बोला—'यह दुर्बल भावना है। और यह इसी-लिये तो कि तुम्हारे पास महत्वाकांक्षाएँ हैं। यह उलझन, यह चीख इसी-लियेहै। वह तुम्हें गला देगी। मार देगी। उसमें जीवन नहीं, सड़न है··· सड़ाँद है, मेरी रानी!'

एकाएक कम्पित बनकर एकादशी ने कहा—'अनन्त······

अनन्त बोला—'मैं जब भी तुम्हारे पास होता हूँ, तो सुख पाता हूँ, इस विश्व का महान सौन्दर्य और अनुभूति का रूप तुम्हारे समीप ही अनुभव करता हूँ। जिस प्रकार चन्द्रमा की धवल किरणें सुख और शान्ति देती हैं, वैसे ही एक तुम हो। मैं गंगा की लहरों में भी तुम्हारा रूप देखता हूँ।'

इतनी बात सुनी तो एकादशी ने अपना मुँह अनन्त के कन्धे पर रख दिया और नितान्त आलोड़ भरे स्वर में कहा—'तुम हो, तो मैं हूँ; अन्यथा, क्या मोल है इस एकादशी का !'

अनन्त ने उसके गुलाबी गालों को थपथपाते हुए कहा—'यही कहते हैं सब······ऐसा ही सोचते हैं। तो भला, मैं क्या कहूँ ?'

बड़े मन से एकादशी ने कहा—'अनन्त, तुम कुछ भी कहो ! तुम मेरे सिरताज हो ! मेरे मन के मालिक।'

अनन्त ने कहा—'तुम निर्धनों की बस्ती में बसी हो, उनकी ओर देखो। तुम्हारे समान उनके भी प्राण हैं, उनकी टीसको अनसुनी न कर दो।'

'तुम यही कहते हो ! तुम फिर-फिर यही सुनाते हो। तुम बताओ, मैं कैसे अपने को मार दूँ। कैसे अपने को लुटा दूँ।'

अनन्त ने उसके हाथ को अपने हाथ में ले लिया और उसे सहलाता हुआ बोला—'चिन्ता न करो, मैं तुम्हारे साथ हूँ। जीवन तो बहुत हैं। आते और जाते हैं। इसीसे तो कहता हूँ इस भाव भरे जीवन को व्यर्थ मत जाने दो। अवसर मिला है, तो उससे काम लो। अपने को समझ लो।'

एकादशी ने अपना मन गिरा कर कहा—'जाने तुम क्या कहते हो,—क्या समझते हो ! कभी कहते हो, जीवन प्रसाद है, कभी कहते हो जीवन

नशा है ! बात एक कहो। उस पर चलो। मैंने क्या यह लम्बा-पथ देखा-सुना है। तुमने मुझसे अधिक पढ़ा-लिखा है।'

अनन्त हँस पड़ा। वह एकादशी की उन आँखों में समा जाने के लिये जैसे बरबस ही आतुर बन गया······।

२४ :

प्रातःकाल के समय अनन्त और एकादशी घूमने निकले। वे प्रसन्न थे। कितनी अलौकिक और अचिन्तनीय अवस्था थी, वह कि दोनों रात के अधिकांश प्रहर में जागते रहे और जीवन तथा उससे परे की बातों में डूबे रहे। जब प्रातः हुआ, तो वे अपने अन्दर थकान या आँखों में नींद भी अनुभव नहीं कर सके। सुबह के समय कुछ सोये और फिर जाग गये।

पहाड़ पर जाकर ऊपर चढ़ते हुए एकादशी थक गयी। अनन्त चाहता था कि वह उस प्रातः की बेला में एकान्त पाये और बैठे। परन्तु एकादशी न उसे छोड़ती थी, न कुछ सोचने देती थी। तभी अनन्त एक ओर बढ़ गया, एकादशी दूसरी ओर। इस प्रकार दोनों में अकस्मात दूरी हो गयी। दोनों एक दूसरे को अपने पास बुला रहे थे और मन चाहे दृष्टि-पथ पर बढ़े जा रहे थे। चारों ओर पेड़ों पर बैठी चिड़ियायें चहक रही थीं उनका कलरव सुहावना लग रहा था। कहीं मोर बोल रहा था, कहीं कोयल।

जब एकादशी कुछ दूरी का चक्कर काटकर अनन्त के पास पहुँची, तो उसने पाया कि वह एक पत्थर की शिला पर बैठा है, एकाग्र है, वह उगते हुए सूर्य की ओर देख रहा है। उसकी लाल-लाल रश्मियाँ अनन्त के मुँह पर पड़ रही हैं। अनन्त एक मन हो, ध्यानवस्थ है। प्रातः की मन्द और

सलिल बहती हुई वायु उसके बालों से खिलवाड़ कर रही है। उस रूप में अनन्त भला लग रहा है। जैसे यह योगी है,—बाल-ब्रह्मचारी! अनन्त उस समय ध्यानावस्थित बन भगवान की आराधना कर रहा था।

किन्तु एकादशी को उस समय बिना बोले, अच्छा नहीं लग रहा था। प्रकृति के उस विकट रूप के नीचे, यों निर्जीव बने रहना उसे पसन्द और रुचिकर नहीं था। जैसे ही अनन्त अपनी आस्था का प्रदर्शन करने बैठ गया था।

लेकिन अपने मन में उठी हुई उस बात को लेकर एकादशी स्वतः ही लजा गयी। उसने कहा—नहीं, नहीं, अनन्त को यही शोभता है! इस पहाड़ पर, जैसे लगता है कि इस प्रातः के समय भगवान पंक्षी-पंक्षी में, पेड़ के पत्ते-पत्ते में बोल रहा है"'वह चहक रहा है। वह बोली अनन्त ही का है"'भाविक"'यह मेरी तरह अर्थहीन बना जीवन नहीं बिताना चाहता''''''।

अपने मन में इतना कहते ही एकादशी उसे अनन्त के प्रति इतनी नर्म और श्रद्धालु बनी कि पास जाकर बैठ गयी और जहाँ अनन्त बैठा था, उसी पत्थर पर अपनी बाहें फैलादी। उसने वहाँ की मिट्टी उठा ली और चुटकी में मीच ली। शायद वह उसे अपने माथे पर लगाना चाहती थी कि तभी अपने आप बोली—इस अनन्त के अन्दर जो ज्योति जल रही है, वह अमिट है। इतना कहते ही, वह अपने आप ही उस भावना में तिरोहित हो गयी। उसमें एक अप्रत्याशित हिलोर उठी। थिरकन सी पैदा हुई और हर्षातिरेक सेमर पास खड़े पेड़ के पास जाकर उसकी एक झुकी डाल को पकड़ती हुई, झूल पड़ी। वह पेड़ फूलों से लदा था कि एकादशी के द्वारा हिलते ही बहुत से नीचे गिर पड़े। तभी वह गाने लगी।

सखी, मैं आज हुई दीवानी !

है चंचल, अगम यह जीवन,

जिसकी गति न जानी,

सखी, मैं आज हुई दीवानी !

एकादशी गाते हुए अपने आप में डूब गयी। स्वर मधुर था। स्वच्छन्द था, वह पहाड़ पर बहती हुई बजार के साथ दूर तक तैर गया। एकादशी का उसका रोम-रोम पुलकित बनकर और हर्ष से भर गया। सिर से साड़ी नीचे गिर पड़ी। हवा के साथ सिर की चोटी भी लहराने लगी। उसने गाया।

जीवन की है निशा अन्धेरी, मग की राह न जानी,

सखि, मैं आज हुई दीवानी !

उसी समय अनन्त उठ आया। एकादशी के पास खड़ा हो गया। सूर्य चढ़ आया था। वह दोनों को उजागर कर रहा था। एकटक अनन्त ने एकादशी की ओर देखा। उसने मन में कहा, यह एकादशी ही रहे इतनी ही तन्मय.......इतनी ही विभोर ? उसे लगा जैसे वह किसी बन-देवी के सम्पर्क में पहुँच गया था।

एकादशी बोली—'आ गये, तुम ! भगवान के भक्त ?'

सुनकर, अनन्त आँखों से हँसा। बरबस ही बोला—और तुम !

एकादशी ने कहा—मेरी तो एक ही भक्ति है···एक ही लक्षण। और वह हो, तुम ! जब गाँव में और आदमियों की बस्ती में तुम्हें नहीं पा सकी तो यहाँ पाने आई हूँ। यही पर तुम्हारा वास्तविक रूप देखना चाहती हूँ।'

अनन्त बोला—'भला मेरा भी कोई रूप है ? जो है, वह तुमने देख लिया है। समझ लिया। उसने कहा—'अच्छा होता अभी तुम्हारे पास न आता। तुम्हारा मधुर स्वर सुन पाता।

एकादशी ने पेड़ की डाल छोड़ दी और कहा—'आओ, चलें। अब तुमने मुझे बनाना शुरू कर दिया। यही तुमने सीखा है?'

अनन्त बोला—'एकादशी! सत्य कहता हूँ। इस समय मुझे लगा कि साक्षात् प्रकृति मेरे पास आ गयी। उसका आशीष मैं पा गया। क्या ही अच्छा हो कि हम दोनों यहाँ रहें......इस पर्वत पर रम जायें!'

मानो अज्ञान बन कर, आँखें तरेरते हुए एकादशी बोली—'तब फिर?'

'तब फिर!' अनन्त बोला—'तब मैं इस धरती पर स्वर्ग पा जाऊँगा। मैं अधिक भगवान की कल्पना कर सकूँगा।'

मानो उदास भाव में एकादशी बोली—'अरे, अनन्त यह तो कोरी कल्पना है। यहाँ भी क्या बिना अभ्यास के रहा जाता है। मुझे सन्देह है कि तुम रह लोगे, इस उजाड़ में!'

अनन्त बोला—'मैं रह जाऊँगा। कहीं भी बस जाऊँगा।'

एकादशी ने चाहा कि कह दे, मैं भी तुम्हारे साथ कहीं भी रह सकूँगी। पर उससे नहीं कहा गया। उसमें बरबस ही रोमाँच उठ आया। उसने कहा—'अब घर चलना है, उधर से नहीं, इधर से!'

अनन्त बोला—'मेरा हाथ पकड़ लो। ढलाव है। गिरने का डर है।'

एकादशी हँस पड़ी बोली—'तो तुम मुझे इतनी दुर्बल मानते हो।'

अनन्त ने चाहा कि कह दे, हर औरत दुर्बल है। पुरुष का सहयोग चाहती है। पर उसने अपनी बात को रोक लिया। उसने दूसरी बात लेकर कहा—'यह प्रातः की बेला भी खूब रही....अच्छी रही। तुमने मुक्त होकर गाया। अच्छा संगम रहा।'

एकादशी बोली—'और जब पहाड़ पर आ बसोगे तब? भला कौन तुम्हारे साथ होगा?'

तुरन्त ही अनन्त ने कहा—'तुम और कौन ?'

यह सुन, एकादशी का मन थिरका। उसने प्रसन्न होकर कहा—'ऊँ-हुँ-क ! यह बात झूठ है ! भला इस एकादशी के सिर में क्या खाज उठी है, जो इस पहाड़ पर जा बसेगी ! यह ठहरी महलों की रानी........ यहाँ न खाने की ठौर, न ठहरने की ! तुम्हें यही सूझता है।'

अनन्त ने एकादशी का हाथ अपनी मुट्ठी में ले लिया और कहा—'तुम साथ में होगी, तो मुझे यहाँ भी सुख मिलेगा। यहाँ का अलभ्य सुख क्या समझ पाई हो ? उसे सहज में देखती हो ! मुझे बहका रही हो !'

एकादशी हँस पड़ी—'ओहो ! बारह वर्ष की जमी हुई काई पर भी रंग चढ़ता है क्या ? भला मैं तुम्हें बहका सकूँगी ?'

अनन्त हँस पड़ा, बोला—'सच, तुम भी कारण हो ! जमींदार की बेटी के मुँह से यह न सुन पाऊँगा, तो क्या कुछ और ! जो पल में खुश, पल में नाखुश—अजीब गोरख धन्धा है, यह भी तुम्हारा !'

इतना सुनना था कि एकादशी ने विद्रूप बन कर अनन्त की ओर देखा। जैसे उसने समझना चाहा कि सच, अनन्त उपहास कर रहा है या गम्भीर बन कर कह रहा है। पर उसने तो पाया कि वह आँखों से हँस रहा था, होंठों से मुस्करा रहा था....।

पहाड़ से नीचे उतर समतल सड़क पर पहुँच गये और अपने ठहरने के स्थान की ओर बढ़ गये।

: २५ :

हँसी-खुशी दोपहर होते-होते वे स्वयं मसूरी के लिये चल दिये। जब मोटर देहरादून पारकर ऊपर चढ़ी, तो अनन्त और एकादशी प्रकृति के उस सौन्दर्य में बरबस खो गये। एकादशी उन कौतुकमयी पहाड़ी

घाटियों को देखकर विस्मय-सागर में गोता लगा रही थी। अनन्त शान्त था। वह अनुभव कर रहा था कि जिस मोटर का ड्राइवर चलकर एक रास्ते से ऊपर गाड़ी को ले जा रहा था, उसी तरह इन्सान का जीवन भी चक्करदार और आपदाओं से भरा है। अनन्त के सामने बैठे एक व्यक्ति ने कहा—'यदि यहाँ रेल, मोटर गिर जाये, तो एक भी मुसाफिर नहीं बचेगा!' तभी दूसरा बोला—'ऐसा न कहो, लालाजी। पिछले वर्ष यही हो गया था। मुसाफिरों से भरी मोटर नीचे खड्ड में जा गिरी थी। आदमी तो क्या, मोटर के पुरजों का भी पता नहीं चला!'

उसी समय अनन्त ने अपने मन में कहा, मौत सभी को डराती है·······इस जिन्दगी के मोह से क्या तृप्ति होती है! मन में यह बात आते ही, अनन्त ने गाड़ी में बैठे सभी मुसाफिरों की ओर देखा। वह दादा पर टिक गया और उसीके सम्बन्ध में सोचने लगा। वह दादा भी वृद्ध हो गया। एकादशी का यही विश्वस्त और ईमानदार नौकर है। अब इसकी देह का माँस सूख चला है। मुँह पर झुरियाँ आ गयी हैं। खाल सुकड़ गयी है। सिर और दाढ़ी के बाल सन-सरीखे सफेद हो गये हैं। आँखें माथे में धँस गयीं हैं। कमर झुक गयी है। वैसे देर से—कदाचित अपने बचपन से ही, अनन्त उस दादा को देखता आया था। एक दिन वह ऐसा नहीं था। पूरा जवान था। छाती तान कर चलता था। काली-काली मूँछों को मरोड़ता था।

तभी अनन्त ने साँस भरी और छोड़ दी। वह पर्वत की ओर देखने लगा। वह बोला—एक दिन सभी का यही हाल होता है! सब ऐसे ही बनते हैं। कोई इस बुढ़ापे से पहिले ही, कच्ची और बे-पकी आयु में चल देता है·······मंजिल के बीच में ही ठोकर खा जाता है। परन्तु यह दादा

तरह, कहाँ-कहाँ बचोगी······कहाँ-कहाँ डरोगी ! अनन्त सभी का है ! इस जीवन का अन्त गिरकर हुआ तो····विस्तर पर पड़कर हुआ तो···!'

एकादशी तुनक गयी। उसे अनन्त की बात पसन्द नहीं आई। तुरन्त बोली—'यह कुछ नहीं। मैं इसे नहीं मानती। जब जीवन पाया है, तो इसे सुरक्षित बनाना है। देखते नहीं, इनसान का इतिहास इसी संघर्ष से तो भरा है। इन्सान ने इन्सान के हेतु बलिदान किया है।'

इस अपूर्व बात को जब अनन्त ने एकादशी से सुना, तो वह हर्ष भाव से उसकी ओर देखने लगा। वह तुरन्त बोला—'निःसन्देह, पुरुष और नारी के त्यागसे इस सुन्दर संसार की रचना हुई है। जिस सड़क पर तुम जा रही हो, ऐक दिन यह स्थान भी निरापद नहीं था। यह हिंसक पशुओं का निवास था। परन्तु मजदूरों ने मरकर इस पथ का निर्माण किया ! आज इस रास्ते से कोई भी जा सकता है।'

एकादशी ने व्यग्र बनकर कहा—'हाँ, हाँ, इतना लम्बा क्यों कहते हो ! मैं मानती हूँ, आज जितनी भी सुविधायें प्राप्त हैं, वे सब हमारे पुरुखों ने प्राप्त की। उसके लिये कष्ट उठाये। मृत्यु का भी आलिंगन किया—बस, यही न !'

जैसे चकित होकर अनन्त ने एकादशी को देखा। उसे लगा कि इस यौवनमयी कुमारी को जैसे इन्सान के इतने बड़े त्याग का तनिक भी महत्व नहीं लगा। उसे भी हलका समझ लिया।

एकादशी बोली—'तुमसे कोई बात की नहीं कि बस स्वयं उलझते और दूसरे को भी उलझा देते हो !'

अनन्त बोला—'अन्तर इतना है कि जिस बात को तुम हल्की मानती हो, मैं उसी को महत्व देता हूँ। गम्भीर पाता हूँ।'

एकादशी ने कहा—'नहीं, नहीं, ऐसा क्यों सोचते हो ! मैं इस जीवन

को असार भी नहीं मानती। मेरा तो मत है कि आदमी के समक्ष जो कुछ आये, उसे करता चले। भोगता चले!'

पास बैठी महिला ने कहा—'और तुम भगवान को मानती हो! इस प्रकृति को?

अचरज से एकादशी ने उस प्रौढ़ महिला को देखा और कहा—हाँ, हाँ, क्यों नहीं! यह उसी भगवान की लीला है।'

महिला मुस्करायी—'तो फिर यहाँ सभी कुछ असार है! हम-तुम आज हैं, कल नहीं!'

एकादशी ने अपने स्वर पर जोर दिया—'यही हमारी दुर्बलता है पैदा होने के साथ ही हमने मौत को याद किया है! इसने ही मनुष्य को कायर बनाया है!'

अनन्त ने बात सुनी और ठहाका मार कर हँस दिया। उसका साथ अपरिचित महिला ने भी दिया।

एकादशी चिढ़ गयी। वह अनन्त से बोली—'हँसे कैसे? क्या मैंने असंगत कहा?'

'नहीं', मुझे संगत लगा।' अनन्त ने कहा।

'निरा झूठ। कोई और कहता, तो मानती। पर तुम नहीं।'

पास बैठी महिला ने पूछा—'ये तुम्हारे पति हैं?'

बरबस, एकादशी के मुँह से निकल गया—'जी।' और उसने देखा कि अनन्त इस बात को सुन उसे देख रहा है। किन्तु एकादशी ने उसकी ओर नहीं देखा। उसने बाहर की ओर मुँह कर लिया।

दादा ने कहा—'मसूरी आ गयी।' और सच, मसूरी के बंगले, मकान दृष्टिगोचर होने लगे। मोटर धीरे-धीरे ऊपर पहुँच गयी। जब वह अड्डे पर रुकी, तो पहाड़ी मजदूरों की भीड़ मोटर को घेर कर खड़ी

हो गयी। उनमें युवा और वृद्ध दोनों थे। कितना अन्तर था कि मुसाफिर खाली हाथ ऊपर चढ़ता हुआ थकता और कुली एक-एक और दो-दो मन बोझ कमर पर लादे ऊपर चढ़ा जाता था। लगा कि जैसे इन्सान का पेट सभी कुछ करने में समर्थ था.........

दादा ने पूछा—'होटल में ठहरेंगे न ?'

एकादशी ने कहा—'हाँ, होटल में।'

कुलियों के साथ वे सभी ऊपर पहुँच गये। होटल में सामान रख दिया गया। दो कमरे ले लिये गये। जब एकादशी अपना और अनन्त का सामान निजी कमरे में लगाने का आदेश दे रही थी, तो अनन्त होटल के दरवाजे में खड़ा मसूरी का विहंगम दृश्य देख रहा था। वह एकाएक चौंक गया। बाजार में उसने एक व्यक्ति को देखा। सहज में पहचान लिया। वह कड़ुवे भाव से मुस्करा दिया और मनही मन बोला—जरूर, सुनील बाबू को पता चल गया होगा कि एकादशी मसूरी गयी है....यह भी हो सकता है कि स्वयं एकादशी ने गाँव छोड़ने से पूर्व सुनील बाबूको लिख दिया होगा.........

: २६ :

एकाएक ही, अनन्त के मस्तिष्क में सुनील एक समस्या बनकर रह गया। वह स्वयं इस निश्चय पर नहीं पहुँच सका कि क्या एकादशी ने सुनील को आने की सूचना दी, या वह स्वयं आ गया। उसी समय अनन्त को लगा कि सुन्दर नारी को प्राप्त करने के लिये पुरुष सभी-कुछ करता है......विवेक को एक ही चुल्लू में पी जाना चाहता है। अनन्त ने अनुभव किया कि यह एकादशी भी सुन्दर है......सुनील के लिये

प्रेरणामयी है। प्राप्य भी है। अतएव, सुनील उसे पाने के लिये प्रयत्न करे, तो क्या बुरा है! वह एकादशी के लिये यहाँ तक चला आया है······पीछे-पीछे दौड़ आया······

इतना सोचते ही, अनन्त के मन में अनायास ही उस सुनील के प्रति दया उपज आई। उसके मन में जो प्रतिस्पर्धी का रूप आ गया था, उसी को लक्ष्य कर, उपेक्षा और तिरस्कृत भाव लिये बोला—नहीं, नहीं, मेरा यह काम नहीं······मेरा यह मार्ग भी नहीं! मैं सुनील से कहूँगा, मैं कुछ नहीं हूँ,—हाँ, कुछ नहीं। वह जो पाना चाहता है, पाये!

इस ऊहापोह में ही दिन कट गया। रात आ गयी। अनन्त के मन में यह थी कि वह अवसर पाते ही, एकादशी से सुनील की बात कहे। उसे बता दे कि वह भी यहाँ आया है। निदान जब रात में उसने सुनील का समाचार दिया, तो वह यह देख कर चकित हुआ कि एकादशी ने न तो प्रसन्नता व्यक्त की, न अचरज का भाव ही प्रदर्शित किया। जिसे देख पाकर, स्वयं अनन्त कौतूहल में पड़ गया।

किन्तु अनन्त ने फिर कहा—'सुनील बाबू यहाँ अवश्य आयेंगे। मुझे उन्होंने देख लिया है।'

तब! मैं भाग जाऊँ, यहाँ से!' छूटते ही, एकादशी ने सरोष बनकर कहा—'देखती हूँ, तुम न स्वयं सोओगे, न मुझे सोने दोगे! जब आधी रात आई है, तो कहने चले हो! जब तक तुम किसी बात को तोड़, मरोड़, नहीं लोगे, न किसी से कह पाओगे—न भूल सकोगे। बताओ तो, सुनील तुम्हारा कौन है······मेरा कौन! मैं उसकी या किसी की लौंडी नहीं हूँ। तुम यहाँ घूमने क्या आये, मुझे मारने आये हो! दिखता है, तुम्हें यही करना है। अच्छा, जो तुमने ठाना है वह

करोगे। दिन भर सोचते रहे। रातके बारह बजे तक सोचते रहे और अब कहने चले हो कि सुनील आया है······हाँ 'तुमने सोचा होगा न कि मैं इस शुभ समाचार को पाते ही गद्‌गद्‌ हो जाऊँगी, खिल उठूँगी। वह मेरा मीत जो है······मेरा·······

एकाएक अनन्त ने कहा—'अधिक रोष न करो, एकादशी! बुद्धि से काम लो!'

एकादशी बोली—"मेरी बुद्धि मारी गयी है। पत्थर हो गयी है!'

अनन्त स्तब्ध था। वह एकादशी की ओर एकटक देख रहा था। उसने देखा कि बहुत दिन में एकादशी को उस पर गुस्सा आया था। उसका मुँह लाल पड़ गया था। निदान, वह उठा और एकादशी के पलँग पर जाकर बैठ गया। वह उसके रेशम सरीखे बालों पर हाथ फेरता हुआ बोला—'यों पगली नहीं बना करते एकादशी! देखो, तुम्हें रोना भी आ गया। मैंने तो कहा कि वह आया है। आखिर वह भी तुम्हारे समीप है। तुम्हारे जीवन में घुस आया है। उसने कुछ पार्ट भी अदा किया है। भला इसमें क्लान्त और क्षुब्ध होने की बात क्या! और तुम समझती हो कि मैं तुम्हें नहीं जानता······नहीं पहचानता!'

रोते हुए एकादशी बोली—'आज मुझसे कहो, मेरे सिर की कसम खाओ कि सुनील का नाम मेरे सामने न लोगे। वह आये तो, न आये तो तुम्हें क्या·······उससे मुझे क्या!'

अनन्त तब भी चकित था। वह कुछ नहीं समझ सका। परन्तु एकादशी ने जिस तरह दुखित होकर अपनी बात कही, जिस प्रकार उसकी आँखों में पीड़ा उभर आई, तो वह उसी को लक्ष्य करके बोला—'मुझे स्वीकार है। पर यह संगत कहाँ है? व्यवहारिक नहीं; लेकिन मुझे वही करना है, जो तुम्हें रुचिकर हो। पसन्द हो!' यह कहते हुए अनन्त बरबस ही मुस्करा पड़ा।

एकादशी उठ कर बैठ गयी। वह अनन्त के कन्धे पर अपना मुँह रखकर बोली—'तुम जिसे असन्तोष और असहमति कहते हो, मैं उसी को जीवन का सुख मानती हूँ। मैंने जिस देवता के समक्ष अपने को अर्पित किया है, यह एकादशी उससे क्या इतना भी न कह पाये! मेरा देवता इतनी बात भी न सुन पाये! जाने कब-कब की पूजा से मैंने यह अधिकार पाया है। बोलो, वह क्या तुमने स्वयं नहीं दिया! चाहो तो छीन लो। इसे लौटालो। तब फिर मैं कुछ नहीं कहूँगी। मैं जहाँ से चली थी, फिर वहीं लौट जाऊँगी। मैं खाली हाथ ही चली जाऊँगी, मेरे देवता!'

उस समय अनन्त स्वतः ही अनोख भावना से भर गया था। वह एकादशी के सिर पर हाथ फेरता हुआ बोला—'तुमने स्वयं ही मुझे अपने पथ पर खैंच लिया है। तुमने अपनी इच्छा से मुझे बाँध लिया है, एकादशी!'

उसी समय पास के चौराहे पर घड़ियाल ने दो बजा दिये। अनन्त ने कहा—'अब सो जाओ।' यह कहते हुए खड़ा हो गया। तभी वह फिर बोला—'मैंने ठीक ही किया कि जो तुमसे कह दिया। नहीं तो आज की रात मैं इतने महान सुख से बंचित रह जाता।' यह कहते हुए वह अपने पलंग पर जाकर पड़ रहा और कुछ ही देर में सो गया। किन्तु एकादशी देर तक नहीं सो पाई। वह आँख बन्द किये मन में जाने क्या-क्या लिये रही। जब उसने अनन्त की सोती हुई साँसें सुन पाई, तो उठकर उसकी ओर देखने लगी। उसे लगा कि अनन्त जैसे समूचे विश्व की सुन्दरता पा गया है। जो अब सुखमय बना आँखें मूँदे पड़ा है। जैसे वह सो नहीं रहा है, जाग रहा है। अनन्त मुस्करा रहा है। इस प्रकार देखकर, एकादशी में अनन्त के प्रति अथाह मोह व्याप गया। जैसे उसके मानस का

समुद्र ठाठें मारने लगा। उसमें ज्वार आ गया। जिसको वह नहीं सम्हार सकी। स्वतः भी बह गयी। वह अनन्त के पलंग पर जा बैठी, उसकी साँसों पर झुक गयी। अनन्त के होठों पर अपने होंठ रखती हुई, वह एकाएक बोली—'मैं तुम्हें नहीं छोड़ सकती……तुमसे दूर नहीं हो सकती !'

यों एकाएक ही अनन्त जाग गया। वह एकादशी को अपने समीप पा, चकित हुआ।

एकादशी ने कहा—'तुम सो रहे हो, मैं जाग रही हूँ। मैं बेचैन हूँ। जली जा रही हूँ……अनन्त, मैं जाने कहाँ उड़ी जा रही हूँ !'

अनन्त तुरन्त ही उठ बैठा। वह जैसे परिस्थिति को समझ गया। उसने अपने स्वर पर झटका-सा खाया और बोला—'ओह ! बड़ी विषम बात है, यह ! कठोर है और तुमने इतना भुला दिया कि आदमी अधिक हल्का है। यह नारी को जल्दी ही ठग लेता है। भला यह हम लोगों के लिये शोचनीय है, क्या ! जाने कितनी बार मैंने देवता के समक्ष शपथ खाई कि मैं तुम्हें नहीं ठगूँगा……तुम्हारी आत्मा को भ्रष्ट नहीं करूँगा। आओ, चलो, अपने पलँग पर !' यह कहते हुए वह एकादशी का हाथ पकड़ उसके विस्तर पर ले गया। उस समय ठंड बढ़ रही थी। बाहर कोहरा छाया हुआ था। अनन्त ने एकादशी से सोने के लिये कहा। किन्तु एकादशी जड़ थी, जैसे पत्थर ! उसने कठोरता के साथ अनन्त की ओर देखा, और अशक्त भाव में अपना सिर झुका दिया।

जब अनन्त फिर अपने विस्तर पर लौट गया, तो एकादशी भी पड़ गयी। यह सच था कि वह जल्दी नहीं सोई। अनन्त भी जागता रहा उस समय एकादशी के मन की समस्या पर टिका रहा। किन्तु वह बोला कुछ नहीं। क्योंकि वह जानता था, कि बात चलेगी तो बढ़ेगी। इसलिये वह मौन बना रहा। कुछ देर बाद उसने देखा कि एकादशी सो गयी।

किन्तु जिस प्रकार वह सोई, वह भी विचित्र था। वह सिरहाने की तरफ न सोकर पायताने की तरफ सोई। जिसके लिये अनन्त ने समझ लिया कि एकादशी फिर बीच में उठी होगी और अपनी उस उद्विग्न अवस्था में ही पड़ गयी होगी। फलस्वरूप प्रातः के समय जब अनन्त की आँख खुली और उसने एकादशी को सुकड़ी हुई पड़ी पाया, तो अपना कम्बल उसे ओढ़ा दिया। वह फिर कमरा खोलकर बाहर चला गया।

प्रातः के समय एकादशी जल्दी नहीं उठ सकी। अनन्त देर तक उसकी प्रतीक्षा करता रहा। जब वह उठी तो उसने देखा कि अनन्त उसके सिरहाने बैठा है और उसके बालों में अपने हाथ की ऊँगलियाँ फेर रहा है। जागते ही एकादशी ने इतना देखा, तो उसने अपनी दोनों बाहें उसके ऊपर डाल दी और कहा—बड़ा अजीब था मेरा सपना, जो मैंने देखा। मैं उससे खूब लड़ी थी।

अनन्त ने कहा—जो जाग्रतवस्था में लड़ सकता है, वह स्वप्न में क्या चूकता है!

एकादशी उठ बैठी और बोली—'हाँ, तुमसे लड़ना भी मुझे अच्छा लगता है, पर खैर यही है कि तुम बुरा नहीं मानते।'

अनन्त बोला—'अब उठो। बाहर चलना है। यहाँ राम बरुण समाज है, जिसमें साहित्यिक और समाज सेवी हैं। वे सब इस पहाड़ी क्षेत्र में सेवा का काम करते हैं। उन्हीं में मेरे भी कुछ परिचित हैं। मैंने हरिद्वार से उन्हें पत्र लिख दिया था।'

एकादशी ने पूछा—'वहाँ, क्या होगा? तुम्हारा भाषण?'

अनन्त बोला—'नहीं, केवल गपशप! यह भी पता चलेगा कि आज-कल उनका क्या कार्यक्रम है। आज रविवार है। उनका विशेष आयोजन होगा।'

एकादशी बाहर चली गयी। जाते समय वह अलौकिक ढंग से मुस्कुराती गयी। उसी समय दो व्यक्ति वहाँ आये। उनमें एक अनन्त के मित्र थे। जिन्होंने आते ही कहा—'कहाँ है ' आपकी एकादशी देवी। उन्हें भी ले चलिये। आज समिति के अधिवेशन में आपका भाषण रखा है।

एकादशी कमरे में लौट आई; उसे देखते ही, अनन्त ने मित्र से कहा—'ये हैं एकादशी देवी।'

मित्रने नमस्ते किया और कहा—'अपने पत्रोंमें अनन्त भाई ने आपका जिस रूप में उल्लेख किया, अब अनुभव करता हूँ कि वैसा ही आपको पाया।'

एकादशी बैठ गयी और बोली—'अनन्त जी ने प्रशंसा की होगी। बुराई तो की नहीं होगी।'

अनन्त बोला—ये हमलोगों को बुलाने आये हैं। आओ, चलें। कपड़े बदल आओ।

तभी दादा चाय का सामान रख गया। उसमें खाने का सामान भी रखा था।

चाय पीते उस आगन्तुक ने कहा—'यहाँ मलेरिया फैल रहा है। उससे लोग ग्रस्त हैं। हम उसके लिये क्या करें, यह निश्चय करना है।'

एकादशी ने पूछा—'आपकी समिति के कितने सदस्य हैं?'

उत्तर मिला—'कई सौ हैं। स्थायी कम हैं। अनन्त भाई हमारे स्थायी सदस्य हैं। यह समीति के संस्थापकों में भी हैं।'

एकादशी ने अनन्त की ओर देख कर कहा—'यह मुझे आज पता चला।'

उसने कहा—'हम तो चाहते हैं कि अनन्त भाई स्थायी मार्गदर्शक बनें। इस क्षेत्र में रहें। यहाँ अधिक दुरव्यवस्था है। भूख है, बीमारी है। पूरा उत्पीड़न है।'

एकादशी ने साड़ी बदल ली। बालों में कंघा कर लिया। वे सब चल दिये।

दादा ने पूछा—भोजन किस समय होगा? कितनी देर में लौटना होगा।'

अनन्त बोला—'एक या दो घण्टे में।'

सब चल दिये। जब वे लम्बा मार्ग पार करके एक भवन के सामने पहुँचे, तो अनन्त के मित्र ने एकादशी से कहा—'यह भवन अभी मिला है। युक्त प्रान्त के एक राजा ने दान में दिया है। अनन्त भाई का यह प्रयत्न भी सफल रहा।'

अन्दर जाकर देखा कि बड़े हाल में सभा जुटी है। दो-तीन सौ स्त्री-पुरुष बैठे हुए हैं। एक वक्ता भाषण दे रहे हैं।

जब वे भाषण दे चुके, तो अनन्त से बोलने के लिये कहा गया। उसी समय सभा के मन्त्री ने एकादशी का परिचय दिया।

अनन्त उठ गया। सभापति के पास जाकर उसने बोलना आरम्भ किया। एकादशी के लिये वह पहिला सबक था कि अनन्त का भाषण सुने। कदाचित उसे यह भी भरोसा नहीं था कि अनन्त धारा प्रवाह बोल सकेगा। किन्तु उसने देखा कि अनन्त का वह गौर वर्ण चेहरा बोलते हुए जैसे और चमक रहा है। वह कह रहा था—'अपने जीवन में, मैं इसे एक दिन भी स्वीकार नहीं करूँगा कि विश्व की समस्त आपदाओं से दूर, हम अपने इच्छित कर्मों में लीन हो गये। अपने तईं भोग, कर्म और ऐच्छिक अभिलाषाओं की तृप्ति का नाम ही जीवन नहीं है। हमारा

समाज से सम्बन्ध है। उसके प्रति भी हमारा कुछ कर्तव्य है। हमारे पास जो कुछ है, वह दूसरों का है। प्राप्त किया गया है।'

अनन्त ने कहा—व्यक्ति समाज का अंग है। उसकी निष्ठा है। यह सजा हुआ विश्व, यह सुन्दर मकान जिन कारीगरों द्वारा निर्मित हुआ है, उनके हम आभारी हैं। परन्तु आज अवस्था यह है निर्माण करने वाला अधिकारी नहीं, जो पैसा लगाता है, वही स्वामी है। पैसा शक्ति है। वही बल है। मैं कहता हूँ यह प्रणाली कल्पित है। विवादास्पद है। इसीलिये तो यह कोलाहल है। अट्टहास है! सर्वत्र रोदन है। चीत्कार है! काश कि हम समझते, इस मानव की रचना का ध्येय ही यह है कि इस ईश्वरीय सृष्टि के निर्माण में वह योग दे। पर इस जगत में आकर इन्सान खो जाता है। वह अपना विवेक और धर्म भुला देता है। यहाँ सर्वत्र विभाजन है। हर ओर वर्ग-भेद है। जैसे इस धरती के जगह-जगह टुकड़े किये गये हैं। गाँव और शहर में विशाल अन्तर है। मजदूर और धनिक के जीवन की कोई तुलना नहीं है। हम जिस अहंभाव की खाई में जा पड़े हैं, वहाँ हमारी मौत है, जीवन नहीं! हमारी सामाजिक भावना प्रायः नष्ट हो चुकी है। हम अकेले हैं। दूर-दूर हैं।

उस समय एकादशी देख रही थी कि अनन्त अत्यधिक कठोर और दार्शनिक के समान बना था। वह बोलते हुए जिस हाथ को बार-बार उठाता, तो उसकी मुट्ठी भी बाँध लेता था। निश्चय ही, वह अपनी दृढ़ता के साथ कह रहा था।

अनन्त बैठ गया। उसने मुँह पर आये हुए पसीने को पोंछ लिया। जब सभा विसर्जित हुई, तो वह एकादशी को साथ लेकर चल दिया। जब वे बाजार में एक सड़क को पार कर रहे थे, तब पास से सुनील बाबू ने पुकारा—'एकादशी देवी!'

मुड़कर, एकादशी ने देखा और कहा—'अरे, आप सुनील बाबू! कहिये कब आये?'

सुनील ने कहा—'परसों आया था।'

अनन्त बोला—'आइये—हमारे साथ चलिये। आप कहाँ ठहरे हैं?'

सुनील बोला—'रायसाहब की कोठी में। उन्हीं के साथ आया हूँ। अभी यहाँ कम लोग आये हैं। मौसम आरम्भ हुआ है।'

एकादशी ने कहा—'आप बड़े आदमी हैं। बड़े आदमी के साथ आये हैं।'

सुनील ने उस बात को टाल दिया। वह बोला—'तुम खूब मिली! आज सिनेमा चलना। यहाँ अच्छे चित्र चलते हैं। तुम भी चलो अनन्त जी!'

अनन्त उस समय दूसरी ओर देख रहा था। बात सुनकर बोला—'कहाँ सुनील बाबू?'

सुनील ने कहा—'सिनेमा।'

'जी, नहीं। 'मुझे सिनेमा जाना पसन्द नहीं।'

यह सुनकर सुनील कुढ़ गया। पर वह अपनी बात को दाबकर बोला—'नहीं अनन्त जी, दुनिया में जो कुछ है। वह हमारे लिये है। हमें देखना है।'

अनन्त ने उपेक्षा से कहा—'ऐसा मैं नहीं मानता।'

होटल आ गया। कमरे में जाते ही अनन्त ने दादा से कहा—'भूख लगी है, खाना ले आओ।'

दादा ने पूछा—'दो थाल!'

अनन्त ने सुनील की ओर देखकर कहा—'नहीं ! तीन थाली।' फिर वह दूसरी ओर चला गया।

तभी सुनील ने एकादशी से कहा—'मुझे आश्चर्य है कि तुमने यहाँ जाने का प्रोग्राम कैसे बना लिया ! मुझे नहीं बताया। कब आई ?'

एकादशी ने कहा—'कल'

'कैसा संयोग कि मैं मिल गया। अब मैं तुम्हें नहीं छोड़ूँगा। मैं तो प्रतिवर्ष आता-जाता हूँ। आज सिनेमा चलना।'

एकादशी ने व्यग्र मन से कहा—'अभी निश्चय नहीं। देखा जायगा। 'नहीं, चलना। चित्र देखोगी, तो प्रसन्न होगी।'

उसी समय अनन्त आ गया। दादा खाना भी ले आया। बातों का क्रम बदल गया।

: २७ :

सुनील का मसूरी पहुँचना आकस्मिक नहीं था, वह सुनियोजित था। एकादशी के मसूरी जाने का समाचार उसे मिल चुका था। वह उसके गाँव गया था। किन्तु इतना सुनील एकादशी से नहीं कह सका। रुक गया। दिन ढले वे सब घूमने चले। मौसम साफ था। धूप निकली थी। मसूरी की ऊँची पर्वतमालाएँ हरे आसमान के नीचे भली लग रही थीं। एकादशी और सुनील प्रसन्न थे। परन्तु अनन्त मौन था। गम्भीर भी बना था। जिसकी ओर किसी का ध्यान नहीं गया। जैसे वह किसी समस्या में उलझा हुआ था और उसी में और अधिक उलझता जा रहा था।

रास्ते में अनायास ही अनन्त के मन में बात आई कि वह जो कुछ सोचता और समझता है, कदाचित् स्वयं उस पर नहीं टिका रहा। वह स्वतः ही भ्रमित है। जैसे वह अपनी दृष्टि में ही उपहास और वेदना की वस्तु बन गया है। उस चक्करदार रास्ते पर चल, नित-नित अपने पथ से विचलित हो गया है। वह जिस दिशा पर जा रहा है, वह उसकी नहीं है। वह सुनील की है, एकादशी की है।

उसी समय अनन्त के मन में बात आई, तो क्या यह एकादशी मायावी नहीं है! इस सुनील को भ्रमाती है……जादूगरनी के सदृश कभी इस ओर जाती है। कभी उस ओर""यह एकादशी अपना नग्न-दर्शन करने पर तुली है!

यह कहते हुए अनन्त अपने-आप में डूब गया। उसे यह नहीं रुच रहा था कि जो सुनील इस प्रकार एकादशी के प्रति अर्पित हुआ है तो क्यों उसे ठगा जाता है! अजीब बात है, एकादशी उससे उपेक्षा करती है, न अपने प्रेम का प्रदर्शन ही भलीभाँति कर पाती है! और कदाचित इसका कारण वह स्वयं है। वह स्वतः ही सुनील सरीखी स्थिति को प्राप्त हो गया है! अपनी दिशा से दूर होकर, इस एकादशी के प्रति समर्पित हुआ है। क्योंकि एकादशी सुन्दर है। अनुरागमयी है। धनिक है। वह एकादशी को पायेगा, तो उसका धन भी पा जायेगा…… अनन्त मालिक बन जायेगा……जमींदार कहलायेगा…

तुरन्त ही अनन्त ने सामने ऊँचे पर्वत की ओर झूका, उसने अपने आप कहा—यह झूठ है! यह तुम्हारा दम्भ है! पागल का प्रलाप है, हे, अनन्त!

अनन्त रुक गया। वह अपने हृदय के चोर को साथ लिये, यह स्वीकार करने के लिये विवश हो गया कि वह भी एकादशी का एक प्रेमी

है। वह भी उसकी ओर झुका है। इस सुनील का प्रतिस्पर्धी बना है। किन्तु इतना मन में आते ही, अनन्त लजा गया। जैसे उसकी आँखों में अन्धेरा छा गया। पथ पर चलना दुरुह बन गया। वह सड़क पर खड़े बिजली के खम्भे से टकरा जाता किन्तु बाल-बाल बच गया। वह मिंचा-मिंचा सा बन, पथ को छोड़ दूसरी ओर चलने लगा।

उसी समय, एकादशी ने हँस कर कहा—'अनन्त, किधर ? —तुम्हें रास्ता भी नहीं सूझता ? देखते नहीं, उधर खाई है।'

यह सुनते ही अनन्त ने एकादशी की ओर देखा। वह फिर रास्ते पर आया। वह हरे आसमान की ओर अपना मुँह उठाकर बोला—'आदि पुरुषकी तरह यह सुनील भी है, जो न लजाता है, न शरमाता है। यह इतना भी नहीं समझता कि यह एकादशी बरबस ही इसे नाच नचा रही है। नित-नित नई आशा और आकांक्षाओं के सब्ज बाग दिखाकर मोहती है और सूवर्ण बनाती है।'

तब ! तब क्या हो ! बलात् अनन्त ने फिर अपने से प्रश्न किया। उसने चाहा कि वह तुरन्त ही अवसर पाये और इस सुनील से कहे, कि तुम मेरी बात मानो भाई, मैं तुम्हारी राह का काँटा नहीं हूँ। मैं कुछ नहीं हूँ। तुम अपनी बात जानो। तुम क्यों उलझे हो ? एकबार इस एकादशी से निश्चित बात कर लो और अपना पथ प्रशस्त बनालो।

किन्तु उसी समय अनन्त के मन में बात आई कि यह सुनील भी मूर्ख है ! यह भी धनी और सुन्दर नारी का भूखा है। यह किसी निर्धन को पसन्द नहीं करता। कुरूप -नारी का वरण भी नहीं कर सकता।

यह सोचते ही जैसे अनन्त की छाती पर घूँसा लगा। वह तिल-मिला गया। वह पहिले से अधिक उदासीन बन गया। अपने जीवन की

जिस व्यर्थता और असमर्थता पर वह लक्षित था, उस पर टिका हुआ ही, वह एक गहरी वेदना के साथ जोर से तड़पा और अपने अन्दर के परमेश्वर को साक्षी कर अपने-आप कहने लगा, मुझे एकादशी से कुछ नहीं कहना है ! मुझे सुनील से कहना है। भाई, इस हरे-भरे जीवन को क्यों सुखाते हो·······इसे क्यों मारते हो ! तुम युवक हो 'तुम सुन्दर और स्वस्थ हो, यह एकादशी क्या, तुम हजार एकादशी प्राप्त कर सकते हो ! यह जब तक दूर है, तब तक अलभ्य लगती है, फिर तो, —हा, मेरे भाई !

अनन्त ने सुनील की ओर देखा। वह न जाने किस जन्म के एकत्र हुए ममत्व को लिये उसे देखने और समझने लगा।

उसी समय एकादशी ने पीछे चलते हुए अनन्त को पुकारा। अनन्त ने उसकी ओर देखा। वह क्या कह रही है, यह सुनना चाहा।

एकादशी बोली—चुपचाप ही रहोगे ? कुछ नहीं कहोगे ? देखते हो, उस पहाड़ का दृश्य कितना मोहक है ! आओ, वहाँ सामने बैठें।'

अनन्त कुछ नहीं बोला। लेकिन उसके मन में जिन विचारों का द्वन्द्व चल रहा था, वह पल मारते ही लोप हो गया। खण्ड-खण्ड हो गया। वह तब हँसती हुई और थिरक कर आगे बढ़ बेंच पर बैठती हुई एकादशी की ओर देखने लगा। वह उसी को बुलाकर कह रही थी, आओ, अनन्त ! कुछ बैठ लो। आज तुम अपनी कविता सुनाओ। और तभी उसने सुनील की ओर देखकर कहा—'बैठो, सुनील बाबू ! अनन्त जी की कविता सुनो और इतना कह उसने मुस्कराते हुये दोनों की ओर देखा।

सुनील भी बैठ गया। उसने अनन्त की ओर देखा कि वह अपनी

भौं को ऊँचो किये सामने विशालकाय पर्वत को देख रहा है। वह बोला—'हाँ, हाँ, आज कुछ सुनाओ अनन्त बाबू।'

सुनकर अनन्त मुस्कराया। उसने सुनील की ओर अपनी आँखें पसार दीं।

सुनील बोला—'कवियों के लिये इससे सुन्दर और मोहक कौन सा स्थान होगा। यहाँ सभी कुछ उपलब्ध है। प्रकृति जैसे सादर और सानुमोदित बनकर फूलों का थाल लिये खड़ी है। वह हँस और बोल रही है।'

अनन्त हँस पड़ा, बोला—'आप तो स्वयं कविता कर रहे हैं सुनील बाबू!'

सुनील ने कहा—'मैं कविता नहीं कर सकता। इसी से मैं कवियों के भाग्य पर ईर्षा करता हूँ।'

अनन्त बोला—'ईर्षा तो आदमी जाने किस-किस पर करता है। आपकी और मेरी क्या बात! आदमी तो स्वतः अपने को हीन और ईर्षालु बना लेता है!'

सुनील ने बात का प्रसंग बदल दिया। उसने एकादशी से कहा—'सिनेमा का समय हो गया। आज एक अच्छा खेल चल रहा है। मुझे वह देखने जाना है।'

एकादशी ने अनन्त से पूछा—'चलोगे सिनेमा?'

अनन्त ने कहा—'तुम जाओ।'

'तो नहीं, मैं नहीं जाती।'

सुनते ही अनन्त चंचल बन गया—'वाह! यह भी कोई बात है। जब खेल अच्छा है और तुम्हें जाने की चाह है, तो क्यों न जाओगी? मैं कहता हूँ, तुम जरूर जाओ। सुनील बाबू साथ हैं। मुझे क्यों न यहाँ

घूमने और बैठने दो ! यह स्थान अच्छा है। मन लगता है। तुम जब तक लौटोगी, मैं होटल पहुँच जाऊँगा।'

सुनील ने कहा—'अनन्त जी, आज तुम भी चलो। सिनेमा एक कला है।'

'नहीं, सुनील बाबू ! मुझे सिनेमा नहीं रुचता। जिसकी जो पसन्द है। वह क्यों न पाये ! वह जरूर पाये !'

तब सुनील ने एकादशी की ओर देखा। उसका मत जानना चाहा। उसने कहा—'अनन्त बाबू, अपनी बात कहते हैं, तुम्हारी नहीं तुम चलो।'

अनन्त ने कहा—'हाँ, हाँ, मैं अपनी बात कहता हूँ एकादशी ! सच, आज तुम जरूर जाओ।'

एकादशी ने आतुर के साथ कहा—'तो तुम क्यों नहीं चलते ! तुम मेरा कहा भी नहीं मान सकते।'

यह सुनते ही, अनन्त ठहाका मारकर हँस पड़ा। उसे लगा कि जैसे एकादशी ने अधिकार की बात कहकर अपना अन्तिम तीर भी छोड़ दिया' परन्तु वह उसे बिल्कुल उपहास की ही वस्तु लगी।

अनन्त को हँसता देख एकादशी के मन में चिढ़न पैदा हुई। परन्तु वह उसे रोक रखी। वह कठिनाई से बनावटी आलोड़ का स्वर लेकर बोली—'चलो, उठो।'

अनन्त ने फिर भी तटस्थ बने रहकर कहा—'मुझे छोड़ दोगी तो उपकार होगा। मैं कुछ लिखना चाहता हूँ। मैं ऐसा ही एकान्त चाहता हूँ।'

एकादशी खड़ी हो गयी और बोली—'तो होटल जल्दी पहुँच जाना। सुनील भी उठ खड़ा हुआ। उसके मन में अनन्त

के प्रति क्रोध आ गया। कहना न चाहकर भी वह कह उठा—'यह नहीं शोभता। तुम कैसे पढ़े-लिखे हो! खुशामद कराते हो!'

अनन्त को सुनील का कहना अच्छा नहीं लगा। परन्तु उसने क्रोध नहीं किया। वह तुरन्त ही सरल और सौम्य बनकर बोला—'हाँ! भाई! मैं देहाती हूँ। गँवारों में रहता हूँ। पर इतना समझ लो, मैं जैसा हूँ, उसी में सुखी हूँ। मेरी और कोई आकांक्षा नहीं है।'

आतुर बनकर एकादशी बोली—'तो फिर बात क्या।' उसने सुनील से कहा—'चलिये, मैं चलती हूँ। मैंने बहुत दिन से सिनेमा नहीं देखा है, आज देखने जाती हूँ।'

दोनों चल दिये। अनन्त वहीं बैठा रहा। कुछ देर बाद उसने सामने के पथ की ओर देखा, तो दोनों अदृश्य हो चुके थे। अनन्त के समक्ष अनन्त फूलों से खिला उद्यान था। उसके ऊपर हरा-भरा पर्वत था। लगा कि जैसे अनन्त बैठा-बैठा भिंचा जा रहा था। वह काँप रहा था। अवस्था यह थी कि जैसे वह रोयेगा, रो पड़ेगा!

इस प्रकार अनन्त उत्तरोत्तर जीवन के अन्धकार में लीन होता जा रहा था। उसका मस्तिष्क और विषैला बन गया। वह जैसे अपने-आप ही विक्षिप्त हो गया।

धीरे-धीरे सूरज छिप गया। सन्ध्या का अन्धकार बढ़ चला, ओस पड़ने लगी। ठण्ड बढ़ गयी। दूर सड़क पर कोहरे से चारों ओर धुँआँ-सा घुट गया। किन्तु अनन्त जिस प्रकार बैठा था, बैठा रहा। वह मौन बना उसशून्य स्थान पर रोने लगा। वैसे वह एकान्तप्रिय था। परन्तु उस क्षण जिस बात पर टिका था, उसके लिये, मानो उस स्थान से उपयुक्त और कहीं कोई दूसरा स्थान नहीं मिल सकता था।

अनन्त के सामने बात थी कि जिस मकड़ी ने उसके चारों ओर जाला पूर दिया है। वह उससे बाहर हो जाये। वह अपने मन में उठी उलझन का अन्त कर दे। एकादशी से दूर हो। यहाँ से दूर हो। दोनों के विचारों में अन्तर है। इस दुर्बलता का दूसरा नाम है मौत! यदि वह जीना चाहता है, तो चेतना का आश्रय ले। इस जंजाल से मुँह मोड़ ले!

अनन्त ने एकबार कुरते के गले को पकड़ते हुए अधीर बन कर कहा—'तुम दुभाषिये रहे, तुम निरे धूर्त रहे! कभी तुमने जाने क्या-क्या सोचा था, क्या कुछ करना चाहा था, जो सभी धूल हुआ। वह सभी हवा के झोंके में फुर्र हुआ, मेरे भाई! बस, यही है तुम्हारे जीवन का सत्य! तुमने भी एकादशी से कहा है, उसे आश्वासन दिया! उसे विश्व की सुन्दरतम नारी बताया है······वासना की सड़ी नाली में तुमने भी गिर जाना पसन्द किया है, रे अनन्त!

और वह चिल्लाया और कर्कश स्वर में कहा—'इस पहाड़ के बर्फ में गल क्यों नहीं जाता तू! मर नहीं जाता! इतना कहते अनन्त काँप गया। उसका मन भयावह बन गया।'

किन्तु उसी समय अनन्त की उस विषम मनःस्थिति से दूर, एकादशी सिनेमा हॉल में सुनील के साथ बैठी हुई, पर्दे पर चलती तस्वीर देख रही थी, देर तक अपना मनोरंजन नहीं कर सकी। जब उसे इस बात का ध्यान आया कि वह अनन्त को छोड़ आई है, इस सुनील के साथ आ गयी है, तो बरबस ही उसका मानस कम्पित और उदास बन गया। जैसे उसके मनका चोर जाग गया। तस्वीर आरम्भ हुए देर हो गयी थी, कथा का चित्र उसके सामने आ गया था, किन्तु एकादशी को लगा अनन्त पहाड़ के नीचे उदास बैठा है। वह एकादशी के उस ढंग को देख कुण्ठित और कठोर हो गया है।

चित्र के कई दृश्य आये और गये। पर एकादशी का मन एकबार उचटा, तो फिर नहीं लगा। जब वह सचमुच ही अपने को विषम स्थिति में पाने लगी, तब हठात् उसने सुनील से कहा—'अच्छा सुनील बाबू, मैं चली। तुम खेल देखो। मेरा मन नहीं लगा। तुम्हारे कहने पर चली आई थी।' कहते हुए वह खड़ी हो गयी।

सुनील आश्चर्यचकित हो गया, बोला—'यह क्या एकादशी! पागल न बनो। बैठो! कितना सुन्दर खेल है! प्रेम का कितना भाव भरा चित्रण है। नायक किस तरह अपनी नायिका के प्रति आतुरतल बना समर्पित हुआ है।'

किन्तु एकादशी ने द्वार की ओर बढ़ते हुए कहा—'नहीं, नहीं, मैं ऐसा दिखावट पसन्द नहीं करती। मुझे नायक-नायिका पसन्द नहीं—यह कहते हुए वह बढ़ गयी। सिनेमा हॉल से बाहर निकलकर सड़क पर आ गयी। वह जल्दी-जल्दी पैर उठा होटल की तरफ चल पड़ी। वहाँ जाते ही उसने देखा कि दादा ऊँघ रहा है। पण्डित रामदीन बैठा हुआ बीड़ी पी रहा है। एकादशी को देख दादा सचेत हुआ। उसने एकादशी को कुछ परेशान पाया। वह बोला—'आ गयी बिटियारानी?'

किन्तु एकादशी ने पूछा—'अनन्त बाबू नहीं आये?'

'नहीं, बिटिया! तुम्हारे साथ तो गये थे।'

सुनते ही एकादशी का माथा ठनका। वह उद्भ्रान्त हो गयी। तुरन्त ही वहाँ से चल पड़ी। सर्दी बढ़ गयी थी। मंजिल दूर थी। फिर भी एकादशी चल पड़ी। वह फिर उसी स्थान पर पहुँच गयी जहाँ अनन्त को बैठा छोड़ गयी थी। जाते ही देखा कि अनन्त वहाँ बैठा है। कोहरे से वह भी ढका है। घुटनों में उसने सिर दे रखा है। उस समय चारों ओर निर्जन! भयावह! सन्नाटा! जब एकादशी ने अनन्त को बैठा पाया, तो

वह एकाएक उसे न पुकार सकी। जैसे वह अपराधिनी थी। उस क्षण बोलने और कुछ कहने का साहस उसे न हुआ।

उसी समय देर की रुकी हुई साँस छोड़ अनन्त ने छाये हुए कोहरे की ओर देखा और कहा—'जो हुआ, अच्छा हुआ। जाने ईश्वर की क्या प्रेरणा है! वह मुझसे क्या करने को कहता है! उसी के आदेश पर तो यह मानस चलता है! सुनील और एकादशी को बुरा लगा होगा। लगे। मुझे यही चाहिये था। शायद इस कटुता में ही हम सबका सुख निहित था। एक दिन यही होना था। मुझे यही पाना था।

यह सुनते ही एकादशी ने अनन्त के सामने जाकर कहा—'ऐसे तुम जाने क्या-क्या सोचते रहोगे·······क्या-क्या कहते रहोगे! अब उठो। इतनी ठण्ड में······ ऐसे सुनसान पथ में······'

किन्तु अनन्त ने बिना आश्चर्य व्यक्त किये कहा—'एकादशी, अब समय है कि मैं सत्य का पोषण करूँ! मैं और हूँ, तुम और! मेरे मन में जो कोलाहल है, तुम उसे और न बढ़ाओ। मुझे क्षमा करो।'

एकादशी ने लाल रेखाओं से घिरे धुँधले चन्द्रमा की ओर देखा। उसने अधीर स्वर में कहा—'अनन्त, तुम औरत को कहते हो, पर पुरुष बड़ा ईर्षालु है। देखती हूँ तुम इस एकादशी को मार देना चाहते हो।'

अनन्त, बोला—'काश, मैं ऐसा होता। तुम्हें मार देना ही श्रेयष्कर था। पर मैं ऐसा अधिकार नहीं रखता। ऐसा पाप भी नहीं करना चाहता। मैं कायर जो ठहरा! तुम जाओ। होटल में मेरा कुछ नहीं है। वह सब तुम्हारा है।' यह कहते हुए अनन्त खड़ा हो गया। वह उसी कोहरे में दूसरी ओर बढ़ गया।

चौंककर मानो तन्द्रा से जाग कर, एकादशी दौड़ती हुई चिल्लायी—'अनन्त, ओ—वह ठोकर खा गयी। सड़क पर मुँह के बल गिर पड़ी।'

किन्तु अनन्त नहीं रुका, नहीं रुका। वह उसी अन्धकार में तेज चाल से चलता हुआ विलीन हो ....

अनायास जब एकादशी सिनेमा हॉल से बाहर निकली, तो सुनील भी रूठ गया। वह एकादशी के पीछे-पीछे ही होटल पहुँचा और फिर वहाँ से उस स्थान की ओर गया जहाँ अनन्त बैठा था। सुनील में अचरज से पूर्ण एक महान कौतुक था! जब एकादशी सड़क पर गिर पड़ी, तब उसके मुँह से वेदनाभरी वाणी सुनकर सुनील सिहर गया। उसी समय एकादशी ने जैसे बरबस कहा—'अनन्त! हाय! ऐसा निर्मोही निकला तू!'

वह क्षण जो एकादशी के लिये दुःखद और कठोर था, दूर खड़े सुनील के लिये भी कम मर्मान्तक नहीं था। उसने सहज ही समझा कि इस एकादशी का हाल ही में अन्त क्या है। किस प्रकार यह यौवनमयी सुकुमारी इस अनन्त के जीवन में प्रविष्ट हो चुकी है। उससे कितनी ममता रखती है। यह विषय सचमुच ही सुनील सरीखे महत्वकांक्षी के लिये अतिशय भयावना था। जिसका परिणाम यह हुआ कि वह एकादशी के प्रति ग्लानि से भर गया। उसने चाहा कि वह उसकी ओर से मुँह मोड़ ले। चला जाये। वह हार गया तो क्या, उसी सरीखा का एक व्यक्ति, इस एकादशी को त्याग गया........अनन्त इसकी ओर से मुँह मोड़ गया.......

परन्तु सुनील में इतना बल नहीं था। आत्मा निःशक्त थी। वह अनजाने ही एकादशी की ओर बढ़ गया। उसे जमीन से उठने में सहारा दिया और बोला—'जाने तुमने क्या सोचा है, एकादशी! अपने साथ तुमने मुझे भी परेशान किया। आज समझा मैं, कि जो अनन्त तुम्हें ठुकराता है, तुम उसी का पल्ला पकड़ती हो.......कहो तो, तुम कितनी बड़ी दुर्भागिनी बनने पर तुली हो! तुम अपना महत्व और प्रतिष्ठा भी भूल रही हो। अब उठो। होटल में चलो। वैसे मैं तो जानता हूँ कि तुम बड़ी हठीली हो!

सुनील की बात सुनकर एकादशी ने चाहा कि वह कहे, तुम जाओ, सुनील बाबू ! तुम न होते, तो यह सब न होता। अनन्त भी आदमी है। अपना अधिकार समझता है। सम्मान रखने की बात वह भी मानता है। परन्तु इतना सब एकादशी ने नहीं कहा। वह खड़ी हो गयी। उसके घोटों में और माथे में चोट लग गयी थी। वह सड़क से रगड़ा खा गयी। खैर यही था कि खून नहीं निकला, खाल छिल गयी। जब ठण्डी हवा लगी, तो पीड़ा होने लगी। पर वह चुपचाप होटल की तरफ चल पड़ी।

रास्ते में सुनील ने कहा—'अनन्त इतना उद्दण्ड और दम्भी है, यह मैंने आज समझा ! वह कुछ नहीं जानता कि तुम्हारा महत्व क्या है······ उसका अस्तित्व क्या······'

इतना सुनकर भी एकादशी से नहीं बोला गया। वह जिस मन्द गति से चल रही थी, फिर तेज हो गयी। कुछ ही देर में होटल पहुँच गयी। वह सीधे कमरे में जाकर बिस्तर पर पड़ गयी। उसी समय दादा सामने आया और बड़े कौतुक से सुनील की ओर देखकर उसने परिस्थिति को समझना चाहा।

सुनील ने कहा—'अच्छा हुआ, चोट अधिक नहीं आई। सिर फट जाता। देखता हूँ माथा छिल गया है।'

छूटते ही दादा ने पूछा—'क्या हुआ, बाबू ! क्या बिटिया गिर गयी थी। अनन्त नहीं आया ? और उसने एकादशी की ओर देखकर कहा—'ओह, चोट लग गयी ! चलो, भगवान ने——'

बीच में ही सुनील बोला—'दादा, तू तो जानता है कि कहाँ यह जमींदार की बेटी और कहाँ वह भूखा-नंगा देवता की पूजा करने वाला अनन्त······'

एकादशी चीख पड़ी—'आप मुझे शान्ति से पड़ने दें, सुनील बाबू ! मैं आपकी सम्पत्ति नहीं माँगती। अनन्त क्या है मैं जानती हूँ।'

चकित बनकर सुनील बोला—'ओह ! मैंने भूल की। मुझे नहीं पता था कि तुम अनन्त के नाम पर बुरा मान बैठोगी !'

'हाँ, आप मुझसे कुछ न कहिये। मैं तंग आ गयी हूँ, किस-किस को कहूँ, किस-किस को समझाऊँ। कभी वह रूठता है, कभी आप ! मैं स्त्री हूँ, शायद इसी से इन दो पुरुषों के हाथ का खिलौना बन गयी हूँ। मैं पूछती हूँ आपने कभी भी विवेक से काम लिया, या नहीं ! आपने किसी को केवल एक ही दृष्टि से देखना सीखा है। मैं चाहती हूँ कि आप मुझे छोड़ दें। मुझ पर दया करें।'

सुनील खड़ा हो गया और बोला—'तुम बहुत तीव्र हो और कुण्ठित बन गयी हो। तुम शान्ति से काम लो। मैं कहता हूँ तुम अब भी हृदय की परख करो।'

'आपके हृदय को !' एकादशी ने कहा—'जब अभी तक नहीं समझा गया, वह अब क्या समझा जायेगा ! मैं पूछती हूँ ऐसा मुझमें क्या है, जो आपको आतुर बनाता है ? मेरे पास आने के लिये विवश करता है। मैं कहती हूँ आप न आइये !'

'ओह ! मैं समझा ! इतना तुमने पहिले नहीं कहा। अच्छा.......'

एकादशी बोली—'यह आपको सोचना था। आज जब तंग आ गयी हूँ, तो कह पाई हूँ। आपने जो कष्ट किया, उसके लिये आभारी हूँ।' इतना कहकर उसने अपना मुँह दूसरी ओर फेर लिया।

सुनील कमरे से निकल गया। वह अपने जूतों से खटखट करता हुआ बरामदे से पार हो गया।

यह देखकर एकादशी ने अपने-आप कहा, चलो, अच्छा हुआ ! मेरा पिण्ड छूट गया ! उसने कमरे की छत की ओर दृष्टि डाला और कहा, इस सुनील बाबू से मुझे जितना कहना था, वह कह दिया। मुझे अनन्त

से भी जो कुछ नहीं सुनना था, आज वह भी सुन लिया। उसने समझ लिया कि मैं उसे मूर्ख बनाता हूँ, ठगती हूँ······भोला कहीं था! एकादशी ने पास खड़े और गुमसुम बने दादा की ओर देखकर कहा—'क्यों दादा, इस जीवन के लिये क्या चाहिये, वह जानते हो तुम!

दादा एकाएक नहीं बोल सका। वह जैसे एकादशी की बात में डूब गया।

लेकिन एकादशी ने फिर पूछा—'क्यों, तुम नहीं जानते, दादा! बताओ, मैं कैसे जीवित रह सकती हूँ? मैं जीना चाहती हूँ।'

दादा ने बाहर घने हो आये कोहरे की ओर देखते हुए कहा—जीने के लिये सभी कुछ चाहिये, बिटियारानी! रोटी, कपड़ा और शांति भी!'

'हाँ, बस' मुझे शांति चाहिये।' एकादशी ने आतुर बनकर कहा—'मेरे मन की शान्ति अब दूर हो गयी है। लगता है, मैं जिस राह पर चली थी, वह छूट गयी। मैं पथ-भ्रष्ट हो गयी हूँ।'

दादा एकाएक कुछ नहीं कह सका। वैसे यह देर से समझ चुका था कि आज कोई बात हुई है। वह प्रसन्न था कि सुनील बाबू से साफ कह दिया गया। परन्तु अनन्त कहाँ है, साथ गया था, साथ क्यों नहीं आया यह जानने के लिये वह तब भी उत्सुक था। इतना वह समझ गया कि निश्चय ही, अनन्त स्वयं कहीं चला गया! इस एकादशी को छोड़ गया। तभी सकुचाये हुये उसने पूछा—'बिटिया, यह बात तो अनन्त बता देता कि वह कहाँ है? ऐसे जाड़े में वह कहाँ रह गया!'

एकादशी ने विषम बनकर कहा—'दादा, वह नहीं आयेगा। आ नहीं सकेगा।' यह कहते हुये उसने साँस भरी और बोली—'अब उसका मोह छोड़ दो! उसे मत बाँधो। वह जैसा है, उसे वैसा ही रहने दो।

उड़ते पंक्षी को पिंजड़े में मत कैद करो। उसे हवा के परों पर तैरने दो। अब मुझे भी शांति से जीने दो, दादा! मैं इन सभी से भर पाई। अब जिसकी जो राह है, वह उसी पर जाये। अपनी मनमानी करे। मैं क्यों व्यर्थ ही अवरोह पैदा करती हूँ? बाधक बनती हूँ। यह कहते हुए एकादशी फिर उठकर बैठ गयी। वह अन्धेरे की ओर घूरने लगी।

कुछ देर बाद एकादशी ने कहा—'हम कल प्रातः ही इस होटल को छोड़ देंगे। गाँव चले जायेंगे!'

दादा ने कहा—'अच्छा, बिटियारानी! अब तुम खाना खाओ। आराम करो।'

किन्तु एकादशी ने कुछ कहा तो नहीं, पर उदास बनकर उसने दादा की ओर अपना मुँह उठा लिया।

यह देख दादा ने स्नेहसिक्त बनकर कहा—'ऐसी रात में अनन्त जाने कहाँ पड़ा होगा! उसके पास न ओढ़ने का कपड़ा है, न पैसा है। भला क्या कहीं ठहर सकेगा! खा-पी सकेगा!'

एकादशी झुँझला उठी। वह पीड़ा भरे स्वर में बोली—'उसे ऐसे ही रहना है! तुम कौन! भाग्य सभी का जुदा-जुदा है! भला कौन, किसका साथ देता है!'

'तो तुम्हें खाना लाऊँ? ठण्डा हो गया! समय भी अधिक हो गया!'

'मैं नहीं खाऊँगी—खा नहीं सकूँगी, दादा!'

दादा ने खिड़की के शीशे से बाहर देखा। उसी ओर देखते हुये उसने कहा—'अनन्त की बात पर तुम मुझे तो रोकती हो, पर स्वयं अशान्त हो खाना भी नहीं खा रहे हो। बिटियारानी, तुम कहो या नहीं, तुम अनन्त के सोच में हो। तुम उसी के सुख-दुःख को सोचती हो! बोलो

तो, क्या हुआ ? वह कैसे चला गया ! सच, तुम दोनों ही अभी बच्चे हो। क्षण में लड़ते हो......क्षण में मिल बैठते हो......'

एकादशी मौन थी। वह हाथ की हथेली पर ठोड़ी रखे बाहर की ओर देख रही थी।

दादा ने एकादशी के सिर पर हाथ रखा और कहा—'बिटिया, रो रही हो ! तुम सचमुच दुखिया बनी हो। सभी कुछ पाकर सुखी नहीं हो। बोलो—'वह कहाँ गया है ! किधर मुड़ गया है ? मैं जाऊँ ! उसे खोज लाऊँ। उससे कहूँ, अरे, बेरहम चल, तेरे बगैर बिटिया को क्या कुछ अच्छा लगता है......खाना भी नहीं रुचता......'

एकादशी की आँखें बहती रहीं और उसने जैसे तड़पकर कहा—'दादा, मेरी शान्ति चली गयी। जीवन की सभी आकांक्षाएँ मिट गयीं।'

दादा ने कहा—'न बिटियारानी ! साधन बड़ी चीज है। पैसा ही सब कुछ नहीं है। अनन्त भैया को पाने के लिये त्याग की जरूरत है। तुमने उसका साथ तो दिया है, पर कुछ और। मैं जानता हूँ, अनन्त घमण्डी नहीं है। जब उसके दिल को दुखाया जाता है, तो वह तड़पता है। आज भी शायद यही हुआ है। यह सुनील गाँव गया होगा। वहाँ से बात सुनी, तो यहाँ आ गया। समझो तो, यह क्या चाहता है...... भेड़िया बना है। औरत को सूँघता फिरता है ! इसने यही सीखा है !'

एकादशी मौन थी। उसकी गरम साँस सुनाई देती थी।

दादा ने कहा—'कहो, मैं और रामदीन जायें। किसी पेड़ के नीचे बैठा होगा, ले आयें।'

'दादा वह नहीं मिलेगा। नहीं आयेगा।'

'वह क्यों नहीं मिलेगा बिटियारानी ? भला क्यों नहीं आयेगा ?'

दिया १५

एकादशी ने कहा—'यह मेरा काम है, तुम्हारा नहीं। जब वह एकबार नहीं आया, तो अब भी नहीं आयेगा।'

'तुम हमें जाने दो। वह मिला, तो जरूर आयेगा।'

एकादशी ने अपना गरम कोट पहन लिया। गरम चादरा भी ले लिया। वह बोली—'मेरे साथ आओ। रामदीन को भी ले लो। आज फिर एकबार तुम देख लो कि इस एकादशी ने अनन्त के लिये क्या नहीं किया।'

दादा बोला—'मैं जानता हूँ। देर से समझता हूँ। आज नयी बात क्या है! अपनी जिस बिटिया को यह नन्हीं-मुन्नी से बड़ी देख पाया है, तब क्या इतना भी न समझ पायेगा! पर जब तुम दुखी दीखती हो, तो तुम्हारे इस दादा को अच्छा नहीं लगता।' यह कहते हुए दादा ने डण्डा ले लिया। वह साथ चल दिया।

होटल से बाहर निकल कर एकादशी फिर उसी रास्ते पर चल पड़ी जिस पर चल कर वह कुछ देर पूर्व ही लौट आई थी······और अनन्त उसी पर आगे बढ़ गया था······

: २८ :

एकादशी के निर्देश पर उसी के साथ-साथ दादा और रामदीन बाहर से काफी दूर निकल गये। एकादशी थक गयी। वह लौट चलने की बात लेकर बोली—'कहाँ तक जायेंगे? पैर थक गये। कपड़े भी बर्फ सरीखे हो गये!'

दादा ने कहा—'नीचे खड्ड में गाँव दीखता है। यह रास्ता है। साफ है। मेरा मन कहता है, अनन्त वहीं गया होगा। और देखो, कोई आदमी आ रहा है। उससे पूछ लें।'

एकादशी बोली—'अनन्त नहीं मिलेगा। वह गाँव में जाकर क्या करेगा?'

किन्तु दादा ने आग्रह के साथ कहा—'मेहनत सफल होगी बिटिया-रानी! मुझे भरोसा है।'

उसी समय सामने से आता हुआ आदमी पास आ गया। दादा ने उसे रोक कर पूछा—'क्यों, भाई, तुम्हें एक आदमी मिला है जिसके बड़े-बड़े बाल, जवान और गोरा। एक कुरता पहने और चादर ओढ़े.......'

सुनते ही उस व्यक्ति ने कहा—'अजी, वह बाबू........वह मेरे घर बैठे हैं। उन्हीं के कहने पर मैं डाक्टर के पास जा रहा हूँ। मेरा लड़का बीमार है, जो बिना दवा के पड़ा है, मौत के मुँह में चला गया है। वह बड़े भले और नेक बाबू........परमात्मा ने ही उन्हें भेज दिया!'

उल्लसित बनकर दादा ने कहा—'भला उसका नाम क्या—

अनन्त!'

'जी हाँ, अनन्त! उन्होंने यही नाम बताया। उन्होंने अपने पास से बीस रुपये दिये, जिन्हें मैं डाक्टर को देने के लिये जा रहा हूँ।'

एकादशी ने विह्वल बनकर कहा—'तुम जाओ, भाई!'

'हाँ देखो, गाँव के कोने पर मकान है, वह! दीपक जल रहा है। मैं अभी आया। कहते हुए वह आगे बढ़ गया। वह आदमी क्षण भर में पेड़ों और खाइयों की ओट में छिप गया। उस समय चाँद निकल आया था। दूर तक का पथ दीख पड़ता था।

उसी समय दादा ने पण्डित रामदीन से कहा—'ऐसा है वह अनन्त! किसी के भी दुःख-दर्द में काम आता है। अपने लिये तो सभी करते हैं भाई, पर ग़ैर के लिये जो करे, वही पुण्यात्मा है! जाने इस अनन्त के मन में कौन बोलता है!'

रामदीन ने कहा—'भैया, अनन्त पुण्यात्मा और धर्मात्मा है!'

अपने उन दोनों आदमियों की बात एकादशी सुन रही थी। चलते हुए वह दूर अन्तरिक्ष में जैसे कुछ पा रही थी। उसी ओर देखते हुए वह अपने आप बोली—ये लोग ठीक कहते हैं, अनन्त सचमुच ही ऐसा है। उसके कुरते की जेब में बीस रुपये थे। वे एक कहानी के पुरस्कार स्वरूप आये थे।

वे सब गाँव के कोने से जा लगे। लक्षित मकान के द्वार पर जा रुके। दादा मकान के अन्दर गया और लौट आकर फिर एकादशी और रामदीन को ले गया। वहाँ जाते ही एकादशी ने देखा कि अनन्त रोगी की चार-पाई के पास बैठा है। उसके सिर पर कुछ मल रहा है। पास ही एक स्त्री बैठी है। वह उसी की माँ है। दवा घिस रही है।

अन्दर जाते ही दादा ने पुकारा—'अनन्त भैया—'

चौंक कर अनन्त ने कहा—'अरे, तुम———एकादशी——' तुम्हें इस लड़के का पिता मिला होगा! उसने बताया होगा। जाने किस प्रेरणा पर मैं इधर आ गया। आज मुझे फिर विश्वास हुआ कि भगवान है। वही हमसे कर्म कराता है। हमारा संचालन करता है।' फिर उसने एकादशी को लक्ष्य करके कहा—'तुम देखती हो, इस बेचारी माँ के एक ही लड़का है। पाल-पोसकर खड़ा किया है। यह सख्त बीमार है। मैं जब इधर आया, इस घर के छोर से निकला, तो इस बेचारी माँ का रोना सुना। यहाँ एकबार बैठा, तो फिर उठ नहीं सका। और तुम ऐसे शीत में,

इतनी रात में यहाँ तक आई हो······क्यों दादा !'

दादा ने कहा—'तुम्हें पाना था, अनन्त भैया !'

एकादशी ने देखा कि अनन्त ने अपनी गरम चादर रोगी के ऊपर डाल दी थी। वह केवल कुरते में बैठा था। कांप रहा था। फिर भी वह प्रसन्न और उत्फुल्लित था।

दादा ने कहा—'तुम काँप रहे हो अनन्त भैया ! यह ठण्ड इन पहाड़ियों को सहन है, तुम्हें नहीं !'

एकादशी ने अपना गरम दुशाला अनन्त के कन्धे पर डाल दिया और कहा—'इसे ओढ़कर बैठो। लाओ, बीमार की सेवा मुझे करने दो।'

'नहीं, नहीं, तुम बैठो एकादशी !' अनन्त बोला—'वह आग की अंगीठी अपने पास खींच लो। दादा, तुम और रामदीन भी अपने को गरम कर लो। तुम सब व्यर्थ ही इस रात में यहाँ तक आये। जानते तो हो, यह अनन्त बच्चा नहीं है कि कहीं भटक जायेगा ! यह जीवित रहता तो अवश्य ही घूम-फिरकर तुम लोगों के पास पहुँच जाता।' यह कहते हुए उसने एकादशी की ओर देखा और बोला—'तुम भी अजीब हो ! समझती तो हो, कि यह पहाड़ी प्रदेश है। हिंस्र पशु, चोर-डाकू—सभी आपदायें यहाँ दीखती हैं।' यह कहते हुये वह उठा और रोगी के मा से बोला—'यह जो दूसरा लेप है, रोगी के पेट पर लगा दो।'

जब रोगी की माँ लेप लगाने लगी, तब एकादशी ने कहा—'ऐसा नहीं, बहिन ! लाओ मुझे दो।'

वह औरत बोली—'बहिन, तुम—

'हाँ, हाँ, तुम्हारा लड़का मेरा कुछ नहीं लगता क्या ? यह मेरा भी कुछ है। भाई है।'

उस माँ ने एकादशी से अनन्त के लिए पूछा—'ये तुम्हारे कौन·······
पति हैं?'

एकादशी ने कहा—'हाँ पति हैं।'

'तुम बड़ भागिनी हो, बहिन! ऐसा देवता पति पाया।'

इसी समय शहर गया व्यक्ति लौट आया। उसने आते ही कहा—
'डाक्टर नहीं आया। वह बीस रुपये में नहीं आ सका।'

'डाक्टर नहीं आया! क्यों?' हठात् एकादशी ने पूछा।

उसने बताया—'वह कहता था, बीस रुपये पर रात में नहीं जाऊँगा। कम से कम पचास देने पर जाऊँगा।'

बरबस अनन्त के हाथों की मुट्ठियाँ बँध गयीं। वह क्रोध से भर कर दाँत पीसता हुआ अस्थिर बन गया।

एकादशी बोली—'डाक्टर नीच है! वह आदमी नहीं, पशु है।' कहते हुए उसने अपने बटुवे से तीस रुपये और निकाल कर दिये और कहा—'लो, उस डाक्टर के मुँह पर मारना। कहना, चल रुपये के लालची ·······जलील कुत्ते·······'

उन रुपयों को देखकर वह व्यक्ति बहुत सकुचाया। किन्तु एकादशी ने कहा—'जाओ, भैया! जाओ!'

वह दुखी पिता फिर लौटने के लिए प्रस्तुत हुआ। किन्तु तभी देखा कि रोगी की साँस तीव्र हुई। जिसने अपनी बन्द हुई आँखें भी खोल दीं। वह अपने पिता को देखने के लिये आतुर हुआ। ऐसा लगता था कि रोगी अथाह पीड़ा से व्यथित बन अन्दर-ही-अन्दर छटपटा रहा है।

अनन्त उसकी ओर देखने लगा। उसी समय एकादशी ने अधीर स्वर में कहा—'अवस्था खराब है! बोल नहीं पा रहा है!'

अनन्त बोला—'जाने भगवान क्या सोचता है! ताण्डव-नृत्य हो

रहा है ! हमारा इतना ही काम था। इससे आगे नहीं। अब नियति का काम है।'

एकादशी ने दूसरी ओर मुँह फेर लिया—'नियति कठोर है! यह कथा असह्य है। मनुष्य के देखने योग्य नहीं!'

लड़के की माँ चीख पड़ी—'मेरे लाल··· मेरे बच्चे·······'

अनन्त ने कहा—'अब मृत्यु अपना काम कर रही है। जिस डोरी पर प्राण उलझे हैं, मृत्यु अपने तेज दाँतों से उसे काट रही है।'

एकादशी बोली—'मैं नहीं देख सकती! अपने को सँभार नहीं पाती!'

अनन्त बोला—'हाँ, एकादशी! यह वही समय है, जिसकी कल्पना से मनुष्य काँपता है।' फिर उसने सबको सुनाया—'रोगी को उतारो। जा रहा है!'

इतना सुन बाप पछाड़ खा गया। माँ ने अपना सिर धरती में दे मारा। रोगी गया। उसका नश्वर शरीर जमीन पर उतार दिया गया। उस घर की चीख बाहर भी पहुँची। पड़ोसी आ गये। घर में कोहराम मच गया। अनन्त एक ओर बैठा था। वह बाहर कोहरे में देख कर बोला—'हाय! इसी का नाम जीवन है! इसी पर लोग मरते हैं······· जीते हैं·······अजीब दीनता है, विवशता है, इस मानव की! यह पाला-पोसा लड़का चला गया! खिला फूल मुरझा गया!'

साँस रोककर फिर अनन्त बोला—'पर यहीं क्या सुख पाता! रोटी-कपड़े को भी मुहताज रहता·······'

मृत के पिता ने रुपये लौटा देने चाहे। पर, एकादशी बोली—'अब यह तुम्हारे हैं। लड़के के लिये दिये थे।'

अनन्त बोला—'रोना बेकार है, भैया! धीरज रखो। इतना ही सम्बन्ध था। जो टूट गया। लड़का तुम्हारा नहीं रहा। पराया हुआ।'

दादा बोला—'अब चलो, अनन्त भैया।'

अनन्त बोला—'हाँ, चलो।'

वे सब चल दिये। जब वे उस बिलखते हुए परिवार से छूट चले, तो सभी के दिल भरे थे, आँखें भींगी थीं।

उस समय प्रातः काल निकट था। दूर क्षितिज में अरुणोदय फूट आया था।

: २६ :

अवसर पाकर दादा ने अनन्त को बता दिया कि उसके पीछे सुनील बाबू और बिटिया रानी में मतभेद पैदा हो गया। अब सुनील नहीं आयेगा।

किन्तु इतना समाचार पाकर भी अनन्त मौन बना रहा। जैसे वह अभी भी किसी समस्या में उलझा हुआ था, उसके मनमें एक नया विचार उदित हुआ। वह जीवन में प्रथम बार अपने को अपराधी के सदृश समझ रहा था, जैसे वह निश्चित रूप से सुनील और एकादशी के समीप दोषी था। अतएव, वह अपनी स्थिति को स्पष्ट करना चाहता था। उसके मनमें बार-बार आ रहा था कि वह भी सुनील के समान वासना से पूर्ण है और एकादशी के प्रति आसक्त है। वह भी उस सुकोमल कुमारी के रूप पर आकर्षित है। वह स्वयं पथ-भ्रष्ट है। नारी के रूप का याचक बना है। उसका दिल जैसे किसी पथरीली चट्टान पर गिरकर छटपटा उठा है·······
क्षत्-क्षत् हो गया है··········

तो क्या हो······क्या ? बार-बार अनन्त का अन्तर पुकार रहा था। वह प्रश्न कर रहा था, किन्तु वह स्वतः मौन था,—जैसे निर्वाक! उसका पथ कोहरे में छिप गया था, अनन्त दूर तक नहीं देख पाता था।

फलस्वरूप अनन्त बार-बार सुनील के प्रति प्रभावित हो रहा था, उसे विश्वास था कि सुनील अभी मसूरी से गया नहीं, पहाड़ पर होगा। इसी होटल के आस-पास होगा। अतएव, उसने इच्छा की कि सुनील को पाये। उसके निकट जाये। सुनील के प्रति समवेदना लिये वह उससे कहे, ए भाई! आओ, आज हम-तुम बात करें। एकादशी के विषय पर करें। जीवन के विषय में करें। इस प्रकार एक दूसरे को समझें।'

किन्तु अनन्त को पता था कि वह मगरूर सुनील बात सुनकर भी उपेक्षा से टाल देगा। हँस देगा। अनन्त को पागल बता देगा। बहुत सम्भव है कि वह अनन्त को मूर्ख भी कहेगा। लेकिन इतने समय में अनन्त को अपमान सरीखा जहरीला घूँट पीने का भी अभ्यास हो गया था। अतएव वह इस ओर से उदासीन था। एक दिन जब अनन्त अकेला ही एक पार्क में बैठा हुआ था, तब उसने देखा कि वह सामने से सुनील जा रहा है। किन्तु वह अकेला नहीं था। उसके साथ एक सुन्दर नारी थी। जब सुनील पास से निकला, तो अनन्त ने सहज ही उस नारी को पहचान लिया। वह उसी प्रान्त के एक जागीरदार की विधवा पत्नी थी। सुनील अंग्रेजी वेश-भूषा में था। वह नारी भी पाश्चात्य ढंग के जनानी जूते पहिने, हाथ में बटुवा लिये, साड़ी के ऊपर कोट पहिने जैसे एक कुमारी के सदृश, उस सुनील के साथ, अनन्त के पास से निकल गयी। अनन्त को याद नहीं कि उस अवसर से पूर्व कभी ऐसा भी समय आया कि जब सुनील इस प्रकार सामने से निकल कर न बोल सका हो अथवा न देख सका हो। अतएव, उसे पास से जाता देख, अनन्त समझ गया कि इसके मनमें द्वेष है। जैसे

फोड़ा है और वह सूज गया है, वह फोड़ा कसक रहा है। अन्यथा, कारण नहीं था कि सुनील उसे देखकर भी मुँह फेर जाये। अनन्त को वे दोनों जहाँ तक दिखायी पड़े, वह देखता रहा। वह अपने मनमें एक विचित्र प्रकार का कषैला और तीक्ष्ण विचार लिये उसी स्थान पर बैठा रहा। उस समय अनन्त को सहज ही यह भी ज्ञान हुआ कि इस नारी के कारण, अथवा नारी इस पुरुष के कारण सदा के समान आज भी भ्रमित है, क्रूर है और विद्वेषी है। अनन्त ने यह भी समझा कि नर जिस प्रकार नारी की ओर झुकता है, उसी तरह नारी.........दोनों प्रमादी हैं.........दोनों अन्धेरे में.........

इतना समझते ही अनन्त का मानस हिल गया। उसमें कोलाहल भर गया। बदन के रोंगटे खड़े हो गये। वह काँप गया। हाथ की मुट्ठियाँ बँध गयीं और अपनी कातर तथा दयनीय बनी अवस्था में ही, अन्तरिक्ष की ओर देखता हुआ बोल पड़ा—'हाय! हाय! ऐसा है, यह मानव! इतना दीन मोहताज! और यह नारी...राम! राम! इसका तो समूचा जीवन बिगड़ गया......सांस्कृतिक रूप बदल गया! इस नारी ने अपने को बेच दिया! मातृत्व, पत्नीत्व और भगिनीत्व का भाव इसके अन्तर से हवा के समान उड़ गया......'

नि:संदेह, अपनी उस मौन अवस्था में ही, अनन्त अतिशय मौन बना था। उसका स्थूल शरीर यद्यपि साकार रूप से फूलों के उस बगीचे में था, किन्तु अनन्त का मन जैसे हवा के परों पर बैठा हुआ देश-देशान्तर, समुद्र-पहाड़ और जल-जंगम को लाँघता हुआ एक ऐसे देश की ओर उड़ा जा रहा था जहाँ कदाचित् नारी नहीं होगी, वहाँ पुरुष भी नहीं होगा। वहाँ होंगे अनुभूति से पूर्ण प्राणान्तर में मिले हुए प्राण, जो एक दूसरे की वाणी सुनते और समझते होंगे.......

किन्तु उसी समय अनन्त चौंक गया। पीछे से सुनील का स्वर सुनाई पड़ा। वह मुस्कराता हुआ और मुँह से लगी सिगरेट का धुँआ छोड़ता हुआ सामने आकर बोला—'मैं समझता था, तुम बैठे होगे। यहाँ मिल जाओगे। ऐसी जगह तुम सरीखे कवि ही बैठते हैं, भला और कौन!' कहते हुए सुनील भी पास जाकर बैठ गया और कहने लगा—'पहचान गये न उस महिला को, वह तुम्हें जानती है। वह आज ही यहाँ आई है। मुझे अपनी जायदाद का मैनेजर बनाना चाहती है। पूर्ण अधिकार देती है।' और उसने तभी हाथ में ली हुई सिगरेट फेंक कर ऊपर आसमान की ओर देखते हुए पूछा—'तो कब तक रहेगी एकादशी? क्या देर तक रहेगी?'

अनन्त ने सीधे-स्वभाव कह दिया—'हाँ, अभी रहेगी।'

अनन्त का वह संक्षिप्त उत्तर सुनील को रुचिकर नहीं लगा। 'अभी रहेगी' में, जैसे प्रभुत्व था, आत्मविश्वास था। इसलिये वह मन को चुभा। तभी अपने मन में कहा, यह विश्वास और प्रभुत्व उसने भी पाया। एकादशी ने स्वतः ही यह अधिकार उसे दिया। पर अब ऐसा नहीं। उसकी पहुँच भी अब एकादशी के पास नहीं।'

किन्तु अपनी बात कहने के बाद जब अनन्त ने सुनील की ओर देखा, तो वह किंचित् मुस्कराया, होठों से हँस दिया। वह सुनील के मुँह पर विषादमयी छाया को लक्ष्य कर एकाएक बोला—'तो सुनील बाबू, अब आप नई जगह के मैनेजर बनेंगे, यह अच्छा है। आप वहाँ भी चमकेंगे!'

बरबस सुनील के मुँह से निकल पड़ा—'लेकिन एकादशी ने मेरा महत्व नहीं समझा।'

सुनकर अनन्त क्षण भर मौन रहा। तदनन्तर बोला—'शायद

यही हो! किन्तु भाई, बहुत सी बातें प्रायः मुझमें ही खो जाती हैं। शायद तुम्हारे साथ भी यही हुआ हो। बताओ तो तुम्हारे मन में क्या है? क्या एकादशी? उसकी जागीर?—'देखो सुनीलबाबू, एक बात मैं स्पष्ट कह देना चाहता हूँ और वह यह कि तुम मेरे प्रति कुछ न सोचो! अच्छा यह भी होगा कि एकादशी के प्रति भी अपने मन में कुछ न लाओ!' इतना कहते अनन्त रुक गया। वह फिर कहने लगा—'मैं आज तक इस बात को नहीं समझ सका कि पुरुष आखिर यही क्यों पसन्द करता है? सुन्दर नारी और धन क्यों चाहता है? मेरे मन में बात है कि क्या यही हमारे लिये प्राप्य है? क्या सुगम है? यही चिर-लक्ष्य है? न, भाई!' अनन्त ने सुनील की उन वासनामयी आँखों में झाँक कर कहा—'क्या ही अच्छा हो कि तुम सरीखे चतुर और जीवन के खिलाड़ी इस वासना की दलदल में न फँसें। यों अपने सुन्दर प्राण न खोने दें।' कहते हुए अनन्त गम्भीर बन गया। उसकी आँखें चढ़ गयीं। माथे में बल पड़ गये। वह अपने सीधे हाथ की हथेली को आँखों को नीचे करता हुआ बोला—'यह न समझना कि मैं उपदेश दे रहा हूँ। केवल तुम से निवेदन कर रहा हूँ कि इस अनुभूतिपूर्ण जीवन को यों ही न खो जाने दो। इस खड़ी हुई गन्ध में निर्मम बनकर प्राणों को न डुबा दो। मैं तुम्हारे प्रति अनुरक्त हूँ। समझता हूँ कि आज के समाज में तुम्हारा महत्व है। तुम जिस एकादशी के प्रति आकर्षित हो, वह भी मेरे लिये न भूलने वाली वस्तु है। जानता हूँ कि वह भी मुझे अपने पास बुलाती है। हो सकता है कि कोई इच्छा रखती है!'

सुनील सूखेपन से हँस पड़ा और बोला—'अनन्त, तुम अतिशय भावुक हो। हर्ष है कि तुममें है सचाई। मैं भी स्वीकार करता हूँ कि एकादशी तुमसे

प्रेम करती है।'

तुरन्त ही अनन्त ने अपने स्वर पर जोर दिया—'परन्तु इतना मुझे नहीं चाहिये भाई! सच, नहीं! सुनील बाबू, मुझे जिस प्यार की दरकार है, वह मुझे अभी नहीं मिला। पुरुष की वासना को प्रज्वलित कर देने वाले प्रेम को मैं नहीं सम्भार सकता। वह तो आग है—तेज है। उसकी लपटें क्या बुझाई जा सकती हैं? वे भोले इन्सान को फूँक देते हैं···देखता हूँ कि वे तुम्हें भी·········'

उसी प्रकार अपने स्वर पर जोर देकर सुनील बोला—'अनन्त·······'

अनन्त ने कहा—'हाँ, मेरे प्यारे सुनील! यदि मैं अपना विसर्ग न करके भी तुम्हारे मन की इस आग को बुझा सकूँ, इस पर पानी डाल दूँ, तो क्या यह मेरे जीवन का सफल प्रयत्न नहीं होगा? मेरा उद्देश्य पूर्ण नहीं बनेगा! मैं यही तुमसे कहता हूँ, तुम अभी जिस जागीरदार की विधवा के साथ जा रहे थे, उसके समान मैं भी उससे परिचित हूँ। एक दिन वह भी मुझे अपने आश्रय में लेने के लिये प्रस्तुत थी। बड़ा अधिकार देना चाहती थी। मैं जब भी उसके पास गया, दुखियों के लिये मन चाही सहायता ले आया। पर मैं तो जानता हूँ कि वह नारी भ्रष्ट है, नीच है, अमानुषीय है। जानता हूँ कि पैसे के बल पर वह नित—नये मैनेजर और अन्य नये नौकर रखती है। मित्र भी बनाती है। बाजार की चाट के सदृश वह प्रतिदिन नया पत्ता चाटना प्रसन्द करती है···निरी भूखी··· निरी कुतिहा···'

सुनील मौन था। वह अपने जूते का तला घास के ऊपर रगड़ रहा था।

अनन्त ने कहा—'नारी ने लाखों रुपया वासना की भट्टी में झोंक दिये हैं। रुपया तो क्या, कहता हूँ कि इसने अपना सुन्दर शरीर उस लप-

लपाती हुई आग के अर्पण कर दिया है। दीखता है कि यह नारी अपने को भी छल रही है···चटचट चटख रही है···'

सुनील ने कहा—'रुपये का यही उपभोग है, अनन्त भाई! आनन्द पाना ही जीवन का लक्ष्य है।'

इतना सुनकर अनन्त सहम गया। वह कातर भी बन गया। उसे लगा कि जैसे सचमुच ही, यह पास बैठा हुआ सुनील भ्रान्त हो गया है। इसने जीवन और पैसे के व्यापार को गलत समझा है। तभी उसने कहा—'भाई, तुमने सांस्कृतिक और सामाजिक महत्व को नहीं समझा। उसका उपयोग भी नहीं किया। तुम समझते हो कि तुम 'तुम' हो, पर मैं कहता हूँ कि मैं, 'मैं' नहीं हूँ। अपना नहीं, पराया हूँ। दूसरों का हूँ। धरोहर हूँ। यही पैसे की अवस्था है। दोनों का एकही अर्थ है। जहाँ स्वार्थ और दम्भ के लिये स्थान नहीं, वहाँ दासता भी हमारे लिये शुभ नहीं, सुनील बाबू!'

सुनील ने कहा—'यह दार्शनिक बात है। बहु-धन्धी मनुष्य भला इतना कहाँ सोचता है।'

'यही तो भूल है! पथ-भ्रष्टता है! अशांति है! स्वार्थ और दम्भ का बोलवाला है।'

इतना सुनते ही सुनील ठहाका मारकर हँस पड़ा। उसने बरबस ही, अनन्त को चौंका दिया।

सुनील ने फिर कहा—'अनन्त जी, संसार का उपभोग करना ही, जीवन का लक्ष्य है। जो पदार्थ है, वह उपभोग की मांग करता है। यही निश्चय है। तुम इसे नहीं मानते, यह दूसरी बात है। वैसे मैं कहूँगा एकादशी का प्रेम, उसका रूप, पैसा तुम्हें भी आकर्षित करता है। मन को पसन्द आता है। क्यों, ठीक है न?'

सुनकर अनन्त ने स्थिर दृष्टि से सुनील की ओर देखा। उसने उस व्यक्ति को समझना चाहा। उसकी बात को सुनकर अभी भी कुछ समझना और सुनना पसन्द किया। अनन्त ने देखा कि उस उद्दण्ड सुनील ने जैसे उसके मुँह पर चपत मार दिया और बरबस ही उसे झकझोर दिया।

सुनील बोला—'अनन्त भाई, तुम जीत गये, मैं हार गया। तुम्हारा यह साधु-वेश एकादशी को पसन्द आया, इसके लिये मेरी भी बधाई! मैंने भी उसे अपनी बनाना चाहा, पर हार गया। देखा कि ऊसर भूमि में जल देना बेकार रहा!'

अनन्त मुस्करा पड़ा, बोला—'तुमने जल नहीं दिया, सुनील बाबू! भूमि कोई ऊसर नहीं। तुममें श्रद्धा हो, लगन हो, और फिर असर न हो, भला क्या बात! तुमने पूजा नहीं की? अपने में श्रद्धा नहीं पैदा की?'

सुनील ने कहा—'मैं पैर पूजने का अभ्यास नहीं करूँगा, अब एकादशी के पास नहीं जाऊँगा।'

अनन्त ने हँसते हुए कहा—'तो तुम्हें बरदान नहीं मिलेगा। जहाँ दम्भ को मारने और सदसय बनने की बात नहीं, वहाँ क्या उद्देश्य पूर्ण होगा। ऐसा करो, तो तुम अवश्य ही उस सुन्दर एकादशी को पा सकोगे। उसके पति बनोगे। बोलो, करोगे, कोरी साधना?' थोड़ा रुककर अनन्त ने भावनामय स्वर में कहा—'सच, तुम ऐसा ही करो, सुनील बाबू! तुम सरीखा पति एकादशी को मिले, तो उसके अन्य आत्मीयों के साथ मुझे भी प्रसन्नता होगी। यह बात मुझे भी भली लगेगी।' इतना कहते हुए अनन्त ने अपने पैरों को बेंच पर रख लिया। वह पलौथी मार-कर बैठ गया। उसी अवस्था में वह फिर बोला—'यदि मैं तुम में नहीं हूँ तो कह सकता हूँ, तुम्हारे जीवन में एकादशी का प्रवेश तुम्हारे लिये बर-दान होगा। तुम बदल जाओगे। एकादशी अपूर्व है और पवित्र है।

तुमने अभी उसे समझा नहीं है। उस भावनामयी कुमारी के हृदय में नहीं झाँका है। निश्चय ही, तब तुम अपना जीवन पखार सकोगे। वह अलभ्य है, अनोखी है। उसमें सुगन्ध है। उस सुगन्ध की मस्ती में कोई भी आदमी झूम सकता है।' यह कहते हुये अनन्त ने साँस भरी और फिर कहा—'यदि तुम सोचते हो कि मैं उस कुमारी को पाना चाहता हूँ, ठगना चहता हूँ, तो यह तुम्हारा भ्रम है। मेरे मन में एकादशी के प्रति ऐसा कुछ नहीं है।

सुनील बोला—'तो क्या तुम नारी के प्रति उदास हो····एकादशी···'

अनन्त ने बात पकड़ ली और कहा—'न, न मैं ऐसा भी नहीं सोचता, सुनील बाबू! मैं विरक्त नहीं हूँ। पर तुम नारी को जिस रूप में देखते हो, जिस प्रकार मादक वस्तु मानते हो, मैं वैसा नहीं समझता। मेरी दिशा और है·······मेरा लक्ष्य और!'

सुनील ने फिर प्रश्न किया—'तो तुम विवाह नहीं करोगे?'

अनन्त बोला—'ऐसा अभी विचार नहीं। कोई निश्चय भी नहीं।'

सुनील ने सीधा प्रश्न किया—'तो एकादशी····तुम्हारी प्रेमिका···'

यह सुनते ही अनन्त काँप गया। उसे लगा कि जैसे पास बैठे हुए सुनील ने अत्यन्त अभद्रता का प्रदर्शन किया। वह सामान्य शालीनता को भी लाँघ गया। किन्तु अनन्त ने उस बात को न लेकर सीधे-स्वभाव कहा—'भाई, मैं इसे पाप नहीं मानता कि एकादशी को मैं प्यार करूँ! या वह मुझे स्नेह की दृष्टि से देखे। प्रश्न शरीर के उपभोग का है। मैं अपने में नारी के प्रति ऐसी अवस्था नहीं पाता। उसमें कोई ऐसा अलभ्य पदार्थ नहीं देखना।'

सुनील ने साँस भरी और कहा—'तब तो मैं कहूँगा कि उस एकादशी को तुमने कहीं का नहीं रखा। वह तुम पर विश्वास करती है।

आशा करती है! अजीब बात है कि तुम खर्च में पली जमींदार की बेटी को योग का पाठ पढ़ाने चले हो। तुम इन्द्रियों को मारने की बात करते हो! बोलो, क्या तुम एकादशी में इसी साधुता को खोजते हो? तुम एकादशी को मार देना चाहते हो! यह निरा अकल्पित और अव्यवहारिक कर्म है। अपने और दूसरे के साथ अन्याय है।" यह कहते हुये सुनील के मुँह पर क्षोभ उतर आया। वह ऊँचे स्वर से बोला—'तुम्हें भोगी बनना है, तो बनो! पर उस एकादशी को क्यों मारते हो मैं जानता हूँ कि तुम उसे अपनी सीमा में बाँध चुके हो। जब तुम नारी नहीं चाहते, उसे भोगना पसन्द नहीं करते, तो क्यों उस ऐश्वर्य-मयी एकादशी के पास जाते हो। क्यों उसके सुकुमार हृदय को झकझोरते हो। तुम न होते, तो अवश्य एकादशी मेरी पत्नी बन गयी होती। हम दोनों के जीवन की एक सीधी डगर बन जाती। पर तुम कैसे रास्ते में आये······कैसे पत्थर बने······इतने क्रूर······सच, बर्बर···

एकाएक जैसे विक्षिप्त स्वर में अनन्त चीख पड़ा—'सुनील बाबू····'

सुनील खड़ा हो गया और बोला—'तुम जड़ हो···तुम अचेतन····

किन्तु अनन्त इतना आरोप पाकर भी मौन रहा। सुनील की ओर देखता रहा।

सुनील चल दिया। वह चला गया।

पीछे से, अपनी वाणी पर जोर देकर अनन्त बोला—'कल मिलना सुनील बाबू! यहीं।'

हाथ उठाकर सुनील ने कह दिया—'अच्छा, अच्छा!'

: ३० :

पहाड़ की वह रात ! चारों ओर गहरा और काला कोहरा। लगता था कि जैसे वह क्रूर शीत इन्सान की हड्डियों को फोड़ कर प्रवेश करने के लिये सन्नद्ध था। इन्सानी बस्ती के उस समूह में—उस पर्वताकार व्यूह के अन्तर्पट में बैठा हुआ अनन्त रात का आधा प्रहर बीत जाने पर भी सो नहीं सका। देर होने पर एकादशी ने उस ईरानी कम्बल से अपना मुँह ढँक लिया जो बिजली के प्रकाश में तब भी चमक रहा था। वर्ष भर पूर्व वह कम्बल अनन्त की पसन्दगी से खरीदा गया था। एकादशी की इच्छा थी कि अनन्त उस कम्बल को ओढ़े, परन्तु अनन्त उसे नहीं ओढ़ता था। घण्टा भर बाद एकादशी सो गयी। निद्रा की साँसें अनन्त को भी सुनाई देने लगीं। उसी समय अनन्त अपने बिस्तर से खड़ा हुआ और उस बन्द कमरे की एक खिड़की को खोलकर बाहर के अन्धकार में देखने लगा। आह ! कितना कठोर और भयावह अन्धकार है यह ! मानो निरा विकराल ! अनन्त ने देखा कि बाहर पड़ते हुए उस कोहरे में न सामने का पर्वत दिखायी दिया, न मसूरी के बाजार के जलते हुए विद्युत-लैम्प ! हवा की सनसनाहट के परों पर तैरता हुआ, किसी होटल से गाने का स्वर जा रहा था। वह मधुर स्वर, उस एकान्त में—उस निशा में—अत्यन्त भला लग रहा था। उसमें अथाह कम्पन था। न जाने कितनी हिलोर !

खिड़की पर जाते हुए अनन्त ने एकादशी की गरम चादर ओढ़ ली थी। उस चादर के नीचे, बदन पर केवल गंजी थी। जब खिड़की से ठण्ढी

हवा आई और वह अनन्त के शरीर से टकराई, तब बरबस उसके शरीर में कम्पन पैदा हुआ। किन्तु उसका ध्यान ठण्ड की ओर नहीं था। उसका मन जैसे कहीं और था। वहाँ केवल जैसे हड्डियों का ढाँचा मात्र रह गया था। उस अवस्था में ही अनन्त जैसे झुँझलाकर, अपने से खिझकर, कह रहा था—तू भी नराधम रहा! तू भी पत्थर रहा! तू भी जड़……रे, अनन्त! बता तो तेरा अर्थ क्या? इस विश्व का अर्थ क्या? इस नारी का और इस नरका मूल्य क्या?

निःसन्देह, अनन्त की आँखों में सन्ध्या समय का दृश्य आ रहा था। जब सुनील उस जागीरदार की पत्नी के साथ बढ़ा जा रहा था। लौट कर सुनील ने उससे जो कुछ कहा, वह भी उसके मस्तिष्कमें उतर आया। उन सभी बातों को लक्ष्य कर अनन्त को लगा कि सचमुच, वह पत्थर है। वह व्यर्थ ही आदर्श की दुहाई देता है! उसने इस सरल और ममता से भरी एकोदशी को ठगा है, परन्तु सुनील साफ है, स्पष्ट है। वह जो कुछ कहता है, वह करता है। उसका अपना समाज है, अस्तित्व है। यह विश्व का कोलाहल, यह उल्लासभरा वातावरण यों ही नहीं है। इसका अपना महत्व है। सुनील चतुराई से उसका प्रतिनिधित्व करता है। वह एक सुन्दर नारी को आकर्षित कर सकता है……रुपया प्राप्त करने की क्षमता रखता है। और यही तो इस जीवन की सफलता है। मान्यता है।

अनन्त ने जैसे चीख कर कहा—जब यह उल्लास, गर्व और आत्मानुभूति है, तब यह विषाद क्यों? मानव का चीत्कार क्यों? यह शोषण और वध की परम्परा क्यों?

अनन्त के मन में बात उठ रही थी और वह उसे दीमक की तरह करौंच रही थी कि गाँव का वह दरिद्र, कंगाल डाक्टर को बीस रुपया भेंट देने को प्रस्तुत होने पर भी दवा नहीं प्राप्त कर सका, क्योंकि डाक्टर

अधिक रुपया चाहता था। उसे जीवन का अधिक आनन्द प्राप्त करने के लिये अधिक रुपयेकी दरकार थी। इसीलिये वह अमानुषीय और कठोर बना था। इस परम्परा ने ही तो मनुष्य को मनुष्य नहीं रहने दिया, ममता और सदाशयता का नाम मिटा दिया।

अनन्त उन पर्वतों के मध्य निर्मित उस सौंदर्यमयी, उल्लासमयी तथा रहस्यमयी मसूरी नगरी के अन्तराल में डोलती कहानी की जब सहज ही कल्पना करने लगा, तो उसे लगा, इन्सान यहाँ आकर निर्लज्ज बनता है। रुपया पानी की तरह बहाता है और मन की इच्छा की पूर्ति करता है। उसे लगा कि अपने पुरखों के समान इन्सान आज भी उसी परम्परा को मानता है। रुपया पाकर समाज का सिरमौर बनता है और समाज की बहू-बेटियों की लाजें छीनता है……निर्लज्ज इन्सान! कोई तड़पे, कोई मचले, पर धनिक अपना अट्टहास करता है……मानो विजयोल्लास से पूर्ण बन, चीत्कार करता है और समूचे समाज को सुनाता है—इन्सान मूर्ख है…दास है, क्षुद्र तिनके के समान…हा-हा-हा-हा!

अनन्त काँप रहा था। परन्तु वह सर्दी से कदाचित कम काँप रहा था। उसके मन में क्षोभ था। वह दुःसह बना था। तभी वह मन में कह रहा था—नारी ठगी गयी है, दुर्बल इन्सान ठगा गया है। इससे अधिक क्या कि नारी को अपना पोषण करने के लिये बाजार के कोठे पर बैठना पड़ा है……नाटक की नायिका……विनोद के लिये एक सार्थक और पूर्ण सामग्री……।

अनन्त सोच रहा था कि मनुष्य इतना नाटकीय है! दुष्ट-प्रकृति है! इस प्रकार उसके मानस में बरबस ही ज्वारभाटा आ गया। वह बेचैन हो उठा। उसे अनुभव हुआ कि सुन्दर कमरा, वहाँ की वस्तुएँ जैसे एक-एक बिच्छू, एक-एक साँप बनकर उसे डसने के लिये अग्रसर थीं—आतुर थीं!

उसी समय उसने देखा कि एकादशी ने अपना मुँह कम्बल से बाहर कर लिया। वह सुन्दर मुँह, विद्युत के प्रकाश में—उस गुलाबी उजाले में—कितना सुन्दर, कितना भला लग रहा था! मानो एकादशी सचमुच ही नीलम परी थी। विश्व की सौंदर्य प्रतियोगिता में सर्व प्रथम। उसके वे घुँघराले बाल, वह नोकीली नाक, वह सुराहीदार गर्दन और वे उठे हुए उरोज......अनन्त बोला—सच, यही तो है वह स्थल, ममता का वह प्रगाढ़ केन्द्र जिस पर सुनील गिरा है और आसक्त बना है। एकादशी के इस रूप के कारण ही सुनील सोचता है कि धूर्त अनन्त एकादशी को ठगना चाहता है.........अपना मन्त्र-जाल डाल कर इसे फँसा लेना पसन्द करता है!

उसी सन्ध्या में दादा ने अनन्त को बता दिया था कि सुनील यहाँ नहीं आयेगा। जो सम्बन्ध एक दिन बना था, वह टूट गया।

किन्तु अनन्त को इतना सुनना भी भला नहीं लगा। वह अनायास ही स्वयं दोषी बन गया। जीवन में प्रथमबार उसे अनुभव हुआ कि वह प्रतिद्वन्द्विता का शिकार बना है। सुनील के समान वह भी नारी का चाहक बना है......एकादशी का उपासक! अन्यथा, यदि वह समाज का सेवक है, इन्सान की अनुभूति के प्रति समर्पित है, तो वह क्यों सुनील और एकादशी के मध्य आता है। वह क्यों एकादशी को बार-बार याद दिलाता है, और कहता है कि हाँ एकादशी! मैं भी हूँ तेरा बचपन का साथी, तेरा चाहक, मैं भी तुझे प्रेम करता हूँ एकादशी!

अपने मन की ऐसी स्थिति में ही अनन्त का मानस अतिशय करुणार्द्र और पक्षाघात से तिलमिला गया। उसे लगा कि सुनील के समान वह भी धूर्त्त है। सुनील व्यावहारिक है, दुनियादार है। वह दुनिया के मन की बात समझता है। अपनी इच्छा पूरी करनी जानता है। और अनन्त—

अर्थात् वह स्वयं एक तरफ आदर्श की दुहाई देता है, अध्यात्म का नारा लगाता है और दूसरी ओर एकादशी के द्वार पर बारबार आकर दस्तक देता है। उससे टकराता है। प्रेम का नारा लगाता है। एकादशी से कहता है, मैं भी हूँ तेरा उपासक—तेरा चिर साथी!

एक दिन दादा ने अनन्त को सुनाकर कहा था कि एकादशी बिटिया को साथी चाहिये। इसके मन की बात समझने वाला चाहिये और वह तुम हो। तभी दादा ने कहा था कि सुनील और तुममें अन्तर है। वह अपनी बात कहता है, दूसरे की नहीं सुनता। वह स्वार्थमय है। सुनील के पास भय नहीं, ममता नहीं, जीवन की सजीवता नहीं, प्रेम नहीं। वासना है, स्वार्थ है, लोभ है।

किन्तु तब दादा की बात सुनकर अनन्त मौन रह गया था। लेकिन उस रात में,—एकान्त में—खिड़की के पास खड़ा हुआ, अन्तर्द्वन्द्व से पूरित बना, जब अनन्त बरबस ही भारी हो गया, तब अपने-आप बोला—दादा ने समझा नहीं। स्वार्थ मेरा भी है। मैं भी सुनील हूँ और क्रूर हूँ। मैं भी वासनासिक्त हूँ। यदि मेरे पास कामनाओं का द्वन्द्व न होता तो क्या बार-बार जाकर भी, मैं इस एकादशी के पास आता! मैं इस प्रकार अपनी इच्छाओं को सँजोने का प्रयत्न करता। उन्हें पूरित बनाता!

इस प्रकार जब अनन्त के मन में अशांति और व्याघात उत्पन्न हुआ, तब उसे लगा कि जैसे निकट ही, कहीं पर, मानव का रोदन, मानव का चीत्कार उसे अपनी ओर आकर्षित कर रहा है। तभी उसने कहा, आदमी भ्रष्ट हो चुका है। पूजा नष्ट हो गयी है। पैसे ने और इन भौतिक तत्वों ने मानव की काया बदल दी है। यह सब न होता, तो आदमी भला होता! इस प्रकार प्राण न छटपटाता होता! एकादशी के पास पैसा

न होता, तो कदाचित उसका रूप और यौवन भी इस प्रकार विकसित न हो पाता। सुनील के समान मैं भी यों गुमराह न होता! उसने दूर सोती हुई एकादशी की ओर देखा और कहा, यह भोली वाला, यह पैसे के नर्तन में लीन, यों कठपुतली का तमाशा न बनती और हम दो व्यक्तियों को अपनी ऊँगलियों पर भी न नचा पाती! एकादशी नारी है! अन्ततः जहरीली है, नागिन है! यह काटना जानती है! यह नारी आदमी को प्रताड़ित करती है और लजाती है! नारी आँधी के समान पुरुष के जीवन में प्रवेश करती है और जब जाती है, तो उस जीवन को बेकार और निरर्थक बना जाती है! इस एकादशी के पास पैसा है, रूप है, यौवन है, इसका प्रहरी है सोने-चाँदी का संसार......यह कुटिल और कठोर दानव! जिस आग में यह एकादशी खड़ी है, उसी में एक पुरुष को भी खींच लेना चाहती है......दुष्टा...हृदयहीना......

उसी समय अनन्त को फिर उस पहाड़ी गाँव के परिवार का मर्म-स्पर्शी रोदन और कोलाहल याद हो आया। पुत्र की अर्थी भी सामने आ गयी। उस भयावनी स्थिति को देख पाते ही, बरबस अनन्त के मुँह से निकला—हाय! एक ओर यह एकादशी है, सुनील है, वह जागी-रदार की पुत्री है, यह मसूरी नगर का कोलाहल और दूसरी ओर प्राणों में भरा वह सन्नाटा, सिसकता हुआ मानव! कितना बेमेल संसार है, यह कितना विराट अन्तर! और फिर भी कहते हैं लोग, वाणी से और लेखनी से पुकारते हैं कि संसार एक है। सर्वत्र भ्रातृत्व और मातृत्व की पुकार है। सभी एक पिता की सन्तान हैं। इतना अनुभव करते ही अनन्त के मन में फिर रोमांच हो आया। उद्वेग आँखों में छलक आया। बरबस उसने अपना मुँह खिड़की की चौखट पर टिका दिया और आतुर बनकर रोता हुआ बोला—माँ!

उसी समय, ठीक अनन्त की पीठ पर एकादशी ने आकर उसे पुकारा। किन्तु वह बोल नहीं सका। वह और अधिक विह्वल बन गया। जैसे उसका कुछ छिन गया है। वह अपनी उन अनुभवी आँखों से सामने के अन्धकार को देखता रहा।

एकादशी बोली—'अनन्त, मैं देर से खड़ी हूँ। मैं एक स्वप्न देखकर जाग गयी हूँ। देखा कि तुम यहाँ खड़े हो। बोलो, तुम्हारे मन में क्या है? पर तुम कुछ न कहो तो भी मैं कल्पना करती हूँ। मैं कहती हूँ कि यह एकादशी तुम्हारे समक्ष है। सदा की तरह यह आज भी इस कठोर रात्रि में निवेदन करती है कि इसे आज्ञा दो···अनन्त, मुझे जीने या मरने का आदेश प्रदान करो!' इतना कहते हुए एकादशी ने अनन्त की कमर पर पड़ी चादर ठीक की। उसे वह जमीन से उठाई और बोली—'आओ, विस्तर पर चलो, बैठो। देखो, तुम्हारा बदन भी बर्फ बन गया है। आओ, इस रात्रि में, इस एकान्त में, जीवन के इस शान्त प्रहर में फिर तुम्हारे पास बैठूँ, तुम्हारी बात सुनूँ। आज बहुत दिनों में ऐसा अवसर आया है। परसों तुमने ऐसी ही रात्रि में मुझे सजने का आदेश दिया था। मुझे रूप की परी कहा था। पर आज मैं कहती हूँ, तुम बैठकर मुझसे कहो, मैं नागिन हूँ, मैं कलमुँही···मैं मद से भरी·······

अनन्त ने आँखें पोंछ ली। उसने एकादशी की ओर देखा। शायद आँखों से कुछ कहना चाहा।

किन्तु एकादशी ने अपने होठों पर विषादमयी मुस्कान लाकर कहा—'यों खड़े-खड़े तुम जो कुछ कह रहे थे, उसका कुछ अंश मैंने भी सुन लिया। उसी आधार पर मैं समझ गयी कि तुम अपनी आस्था के अनु-रूप किसी समस्या पर अटके हो। पर तुम किसी से कुछ कह तो पाते

नहीं ! अपने से कहते हो ! अपने को विषम और कठोर बनाते हो। यों अब रो भी पड़े हो। आओ, बैठो। अपने विस्तर पर चलो।'

अनन्त विस्तर पर जाकर बैठ गया। एकादशी ने उसे कम्बल ओढ़ा दिया। उसी समय दूसरे कमरे से दादा को बुलाया। वह खुर्राटे भर रहा था। आवाज सुनकर जाग गया। उठ आया। एकादशी ने कहा—'दादा, स्टोव जलालो। चाय के लिये पानी रख दो। दो घण्टे से ऊपर हुआ कि तुम्हारे अनन्त जी खिड़की पर खड़े थे। ठिठुर रहे थे, रो रहे थे।'

दादा ने बात सुनली, पर अपनी ओरसे कुछ नहीं कहा। पहिले उसने कमरे की खुली हुई खिड़की को बन्द किया और तब स्टोव जलाने के लिये दूसरे कमरे में चला गया। जब कुछ देर बाद वह दो प्याले चाय लेकर उस कमरे में आया, तब एकादशी ने भारी स्वर में कहा—'दादा, बता-ओगे, कैसे होता है इस जिन्दगी का अन्त ?'

छोटे टेविल पर दोनों प्याले रखकर दादा ने एकादशी की ओर देखा। वह अपने बूढ़े होटों से मुस्कराया—'बिटिया, मैं इतना समझदार नहीं, तुम्हीं बताओ। अनन्त भैया से पूछो।'

एकादशी ने साँस भरी और चाय का प्याला उठा लिया। उसने घूँट भरा और फिर प्याले को मेज पर रख कर कहा—'अनन्त नहीं बतायेगा, तो क्या यह विषय यों ही समझा जायेगा ! न, यह तो मेरी समझ में भी न आ सकेगा।' उसी समय उसने फिर चाय का घूँट भरा और निरलक्ष भाव से अनन्त को देखकर कहा—'सोचती हूँ, मैं पैसा न पाती, पढ़ी न होती तो शायद मैं सुखी होती। यों जीवन-मृत्यु के विषय पर भी न अटकती।'

किन्तु अनन्त मौन था। चाय पी रहा था।

दादा ने कहा—'तो बात क्या है, बिटिया रानी ?'

एकादशी ने लम्बी साँस लेकर कहा—'दादा, सोचूँ तो बात बहुत है और न सोचूँ, तो कुछ भी नहीं !'

दादा बोला—'बिटिया, तुम यहाँ अपना स्वास्थ्य ठीक करने आई हो, तो मन स्वस्थ रखो। हर्ष की बातें करो।'

एकादशी ने चाय पीकर प्याला रख दिया। उसने कहा—'मन प्रसन्न रखने के लिये जिस साधन की आवश्यकता है, वह मेरे पास नहीं है। वह साधना भी नहीं है।'

उदास भाव में दादा ने कहा—'बिटिया भाग्य की बात है! सामने रखी खीर की थाली भी उठ जाती है।'

जल्दी से एकादशी ने कहा—'तो हाँ, मैं ऐसी ही दुर्भागी हूँ दादा! सब कुछ पाकर भी, कुछ नहीं पा सकी।'

दादा मौन बना रह गया। वह अनन्त की ओर देखने लगा। किन्तु वह तो कमरे की छत की ओर मुँह किये हुए था। जैसे एकादशी और दादा की बात में डूब गया था।

उसी समय दादा ने उसे टँकोरा—क्या बात है, अनन्त भैया! क्या कुछ है?'

अनन्त जैसे चौंक गया। वह दादा की ओर देखने लगा।

दादा ने फिर कहा—'जिस कथा को तुम और बिटिया देर से बाँच रहे हो, वह क्या बीच में रहेगी, मैं तो सोचता था, अब वह पूर्ण हो जायेगी। यह प्रकृति भी तुम दोनों को आशीष देगी। इस कथा को अब खत्म करो, भैया!'

अनन्त ने कहा—'तुम जिस कथा की बात कहते हो, वह कभी पूर्ण नहीं हुई, दादा! फिर वह कथा भी नहीं रहेगी। जीवन की कथा के पृष्ठ

इतने कम नहीं कि जो जल्दी समाप्त हो जाँय। पढ़कर समाप्त कर दिये जायें। उत्सर्ग की कहानी क्या मिट जायेगी !'

दादा आँखोंसे हँसा, मुस्कराया और बोला—'इतनी गहरी बात भला मैं कहाँ जानता हूँ। मैं तो इतना कहता हूँ कि अब तुम बिटिया का हाथ पकड़ लो। लोगों को बता दो कि तुम दोनों एक हो—दो होकर भी एक जीवन बन गये हो !'

दादा के अनुरूप अनन्त भी होठों से मुस्करा दिया बोला—'दादा, अब यह कहने की बात नहीं रह गयी है! बीती कहानी है। पुरानी है। देखी-सुनी है। तुम्हारी बिटिया तो इस अनन्त के जीवन में मिल गयी है। यही भावना मुझे आनन्दित करती है। देखता हूँ, विचलित भी बनाती है। मेरी भावना ही मुझे धोखा देती दीखती है।' 'दादा, आज सन्ध्या समय मुझे सुनील मिला था। वह एक जागीरदार की विधवा पत्नी के साथ था। वह औरत भ्रष्टा है, दुश्चरित्र है, सुनील अब उसी की सम्पत्ति का मैनेजर बनने वाला है।'

जैसे अप्रतिभ बनकर एकादशी ने दादा से कहा—'भैया, उस सुनील का रास्ता और है! उसकी आँखें भी और हैं! नीयत भी और! वह औरत को ठगता है। मैं कहूँ कि वह तो अपने सुहावने जीवन को भी ठगने और उजाड़ने पर तुला है। वह मौत की ओर जा रहा है। तेज चल रहा है। शायद भाग रहा है। उसे नहीं दीखता कि सामने खाई है। गिरेगा तो मर भी जायेगा।'

अनन्त बोला—'दादा, खाई में सभी गिरते हैं, मौत सभी की होती है।'

दादा चकित होकर बोला—'क्या सभी? क्या कृष्णभगवान भी? राम भी?

अनन्त ने कुछ हँसने का प्रयत्न किया और फिर बोला—"मौत का अर्थ है अन्त। सो वह सभी का होता है। राम और कृष्ण का भी हुआ।"

दादाने फिर बात पकड़ ली और बोला—अनन्त भैया, मुझे याद है, एकबार तुम्हीं ने कहा था कि आदमी की मौत उसका अन्त नहीं! आदमी तो एक जीवन में अनेकों बार मरता है और जीता है। सो मेरी भी यह बात है कि सुनील बाबू सरीखा इन्सान जीता तो है, पर मरता भी है.......आँखों देखते मरता है! वह तो अपनी इच्छाओं का दास है! कुत्ता है, हड्डी पर मुँह मारता है.......चारों ओर धन और नारी की गन्ध पाकर दौड़ा हुआ फिरता है।'

अनन्त ने कहा—'इसमें सुनील ही अकेला दोषी नहीं है, नारी भी है। वह जागीदार की विधवा पत्नी भी, मैं भी और यह एकादशी भी....'

चौंक कर दादा ने कहा—'अरे, भैया! और उसने देखा कि उसी समय एकादशी के गोरे गालों पर आँसू ढुलक आये थे, जो देर से उसकी आँखों में अटके थे..........'

: ३१ :

वह रात तो बीत गयी, पर अनन्त को उसकी कीमत चुकानी पड़ी। उस रात एकादशी के मन पर गहरी चोट लगी। बरबस ही उसके मन में यह बात आई कि अनन्त उसके प्रति उपेक्षित है। अब तक वह ऐसा नहीं समझती थी। प्रातः होने पर वह बिस्तर से नहीं उठी। सिर में दर्द था और बुखार था। इस बात को अनन्त जानता था कि एकादशी किसी कठोर बात को सहन नहीं कर सकती। जब वह

दिन भर ज्वर से पीड़ित रही और संन्ध्या तक भी विस्तर से नहीं उठ सकी, तो कमरे के बाहर छज्जे पर खड़े हुए अनन्त के पास दादा गया और बोला—'रात बिटिया को सर्दी लग गयी। तुम्हारी बात भी चुभ गयी। इतनी कोमल एकादशी भला तुम्हारी कठोर बात कैसे सहती ?'

दादा से एकादशी के प्रति पूर्ण सहायता पाकर अनन्त ने किंचित, उसकी ओर देखा। उसने दादा का अन्तर्मन भी समझना चाहा। किन्तु तत्क्षण ही वह फिर खामोश खड़े ऊँचे पर्वत की ओर देख, नीचे बाजार का कोलाहल भी सुनने लगा। यद्यपि, दादा के आने के पूर्व उस बाजार की भव्यता को लक्ष्य कर, रंग-विरंगी साड़ियों से सज्जित नारियों, सुन्दर पोशाकों से सम्पन्न रईस और बाबुओं को देखकर, उसके मन में आ रहा था कि यह संसार कभी एक नहीं रहा ······एक इसके समीप नहीं रहा। मातृत्व और ईश्वरीय अस्था का भाव भी इस इन्सान में आत्मीयता पैदा नहीं कर सका। व्यवहार में जगत ने उसे नहीं माना। कदाचित अनन्त के मन में यह बात इसलिये उठ रही थी कि बाजार की उस सजावट में, इन्सानों के शोर में, होटल के उस छज्जे पर खड़े हुए, बाजार में ऐसे अनेक स्त्री-पुरुष,-युवक, वृद्ध और बच्चे दिखाई दिये जो वस्त्रहीनता के कारण, सचमुच ही जाड़े में सिकुड़ रहे थे। कदाचित भूख और दरिद्रता से पेट के समान उनके गाल भी पिचक रहे थे। आँखें माथे में अन्दर धँस रही थीं। जवानी की भरी दोपहरी में ही, वे समाज के प्राण निरे कृश और वृद्ध होते दिखाई देते थे। फलस्वरूप समाज और देश की उस अवस्था को देखकर, उस विशाल अन्तर को पाकर निश्चय ही अनन्त के मानस में हलाहल था, रोमांच हो आया था। उसे स्पष्ट लग रहा था कि शान्ति नहीं, चैन नहीं, कहीं अपनत्व का भाव नहीं··········

किन्तु अनन्त के मन को उस दयनीय स्थिति में ही, एकाएक दादा वहाँ आया, तो वह बरबस ही एकादशी का प्रश्न ले बैठा। उसी का पक्ष लिया। मानो उसकी दृष्टि में वही महान और गौरवमयी गाथा थी। एकादशी विश्व भर की अनोखी थी। और कुछ नहीं। कोई निर्धन नहीं ·······यह समाज दरिद्र नहीं·······यह भूखा और निराश देश नहीं। किन्तु अनन्त को वह बात नहीं रुची। उसके प्राणों में जो कोलाहल परिव्याप्त था, वह किसी और लोक का था, जिसका सम्बन्ध एकादशी से नहीं था। उस लोक में भूख की व्यथा थी! इसलिये वह क्रान्ति की आकांक्षा लिये था, प्रतिक्रिया से भरा था। उसका मानस यह देखकर जल रहा था कि एक खा रहा है और कुत्तों को जूठन फेंक रहा है! और दूसरा है कि भूख की मार से पीड़ित बन, उस कुत्ते के मुँह से टुकड़ा छीन लेना चाहता है! इसलिये वह चाहता था कि क्रांति हो, महा-प्रलय हो! वर्ग भेद की ये दीवारें धराशायी हों। प्रलय आये और अपनी मृत्यु वाहिनी हुँकार से इस जन-समाज को जगाये। इस खड़ाद को साफ कर दे। फिर नये इन्सान का जन्म हो, नयी भावनायें संग्रहीत हो। मानव की उस नयी उत्पत्ति पर—उन नव-नियोजित संस्कारों के जन्म पर—प्रकृति का भी नया और अनुपम आशीष इस इन्सान को प्राप्त हो। तब इन्सान सन्तुष्ट हो—इन्सान सुखी हो!

परन्तु इतनी बड़ी कल्पना करके भी, वह महा-संहार का भाव अपने मन में लाकर भी अनन्त को सन्तोष नहीं था। उसका हृदय तब भी धड़क रहा था। कम्पन था। बेचैन बना था। अनन्त को स्पष्ट लग रहा था कि तालाब का जल तो नित्य ही नया आता है और पुराना जाता है। यह जीव जगत नित नया बनता और बिगड़ता है। परन्तु उन गरीबों की पारदर्शकिता, उनकी अजेयता में क्या अन्तर आया? बड़ी मछली के

सदा छोटी मछलियों का भक्षण किया औरअपना पेट भरा। उसी समय अनन्त को याद आया कि जब वह एकबार एक तीर्थ पर पहुँचा था और वहाँ के एक बड़े कुण्ड में स्नान करने के लिये प्रस्तुत हुआ, तो तभी किनारे पर एक बड़े मगर मच्छ ने उसे लक्ष्य किया और अपना विशाल मुँह खोल दिया। उस जलचर ने जिस भयंकरता के साथ मुँह खोल कर साँस ली और अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से,—मानों कसाई की दृष्टि से—अनन्त को लक्ष्य किया, तो उसी दृश्य को याद कर वह बोला, निश्चय ही, वह मगर मच्छ प्रसन्न बना होगा कि शिकार आ गया, इन्सान का भक्षण करना आज उसके लिये सुगम बन गया। उस तीर्थ पर ही, अनन्त ने देर तक देखा कि जलशाय में मगरमच्छ एक नहीं अनेक थे। वे सभी अपने शिकार की प्रतीक्षा में थे। वे जब अपना मुँह खोलते, तो सहस्त्रों छोटी-छोटी मछलियों को अनायास ही उदरस्थ कर लेते। किन्तु होटल के उस छज्जे पर खड़े हुए, बाजार के अन्तर्पट की ओर देख, अनन्त ने अपने मन पर झटका खाया। उसकी आँखों के समक्ष अन्धेरा छा गया और लगा कि सचमुच, उसके मानस का खून सूख गया है। उस अवस्था में ही, उसने कहा—इन्सान भी गोश्त खोर है····जीव खोर है·······आदमी खोर···········

लेकिन जब उस बूढ़े दादा ने अपनी बात कही, तो क्षणभर मौन रहकर, अनन्त ने पर्वत की ओर देखते हुए कहा—'दादा, जिस रोग की बात मुझसे कहने आये हो, उसकी औषध मेरे पास नहीं है। वह सुनील के पास है। उसे बुलाओ। उसे एकादशी से बात करने का अवसर दो।'

परन्तु दादा ने जब इतनी बात सुनी, तब वह तुरन्त ही वहाँ से हट गया। उसे अनन्त की बात सुनना पसन्द नहीं आया। उसे लगा कि यह

अनन्त कठोर बना है। सख्त बात कह रहा है। निश्चय ही, यह एकादशी को गलत समझ रहा है। उसका अपमान कर रहा है। यहाँ घर से दूर, इन पर्वतों की बीच में—शायद यह समझता है कि मेरे हाथ में इस एकादशी का जीवन है। मेरे इशारे पर ही उसे चलना है···मूर्ख !

दादा को मौन भाव में जाता देख अनन्त ने उसे पुकारा और कहा—'दादा, मेरी बात का गलत अर्थ न लगाना। सीधी बात है मेरी। मुझे सुनील और एकादशी के रास्ते से हट जाना चाहिये। मेरे जीवन की यह अच्छी बात नहीं कि जमींदार की बेटी के सम्पर्क में पहुँच गया। उसकी उदारता प्राप्त की। मैं उसकी कृपा का पात्र बन गया।'

अपने होंठ पर खेदपूर्ण मुस्कान लाकर दादा बोला—और क्या यह भी कहोगे कि बिटिया ने अपना प्रेम देकर, तुम्हें गलत समझा। तुम्हारा अपमान किया।' उसने फिर कहा—'अनन्त भैया, मैं बूढ़ा हूँ। बलहीन हूँ। तुम्हारी जगह कोई और होता, तो मैं उसका गला घोंट देता। मेरे सामने कोई बिटिया का अपमान करे, यह मैं सहन नहीं कर सकता। पर तुम हो कि समझते नहीं, बिटिया ने तुम्हीं को अपना मान लिया है। तुम्हारे लिये बिटिया ने सब कुछ त्याग किया है। अपना मन और जीवन तुम्हें दिया है। देखते तो हो, बिटिया का मन बड़ा दुर्बल है। लाड़-प्यार में पली-पोसी आज अकेली है। बिना माँ-बाप की है। आज बिटिया निराश्रित है। जिसे वह आधार बनाना चाहती है, वह भागता है। जब ऐसा था, तो तुम्हें बिटिया के इतने समीप न आना था। दूर रहना था। तुमने उसका मन बदल दिया है।' यह कहते उस दादा ने साँस भरी। अनन्त ने देखा कि उसका पीला मुँह भी लाल बन गया। वह काँपने लगा। जैसे उसके अन्तर का क्षोभ वाणी में मिलने के साथ खून में भी मिल गया। उसी अवस्था में वह फिर बोला—'तुम बिटिया का अपमान मत करो। उसे

दुखी मत बनाओ। उसका व्याह होता, अब तक हो गया होता, तो दो-चार बच्चों की माँ बन गयी होती। उसका मन लगता। हमारी बिटिया भी माँ बनकर प्रसन्न होगी। जानते तो हो कि लड़की एक साथी चाहती है। फिर माँ बनना भी पसन्द करती है।'

छज्जे पर खम्भे के सहारे अनन्त खड़ा था। जब दादा ने अपनी बात कही, तब अनन्त का मुँह नीचा था। उसे लगा कि बूढ़ा अपनी आत्मा की आवाज का उद्घोष कर रहा था। अतएव, जब दादा ने अपनी अन्तिम बात कही, तब अनन्त ने मुँह उठाया। उसने दादा को लक्ष्य किया। उस समय उसके होंठ सूखे थे। आँखें भी सूखी थीं। लगा कि अनन्त उस क्षण स्वयं ही, अपने-आप में खो चुका है।

उसी समय रामदीन वहाँ आया। वह चंचल स्वर में बोला—'क्या तुम यहाँ हो! अनन्त भैया, तुम देखो न, मालकिन ने उल्टी की है! पित्त निकला है। बड़ी बेचैनी है।'

सुनते ही दादा चल पड़ा—'उल्टी हो गयी, बिटिया को! हे राम!'

साथ चलते हुए रामदीन ने कहा—'बुखार भी तेज है। आँखें जल रही हैं।' दादा कमरे में पहुँच गया। उसने जाते ही अपना ठण्डा हाथ एकादशी के माथे पर रखकर कहा—'बिटिया रानी·······'

किन्तु एकादशी ने आँखें मूँदे हुए कहा—'दादा, मुझे बुखार है! प्यास लगी है।'

दादा ने कहा—'पानी पीना ठीक नहीं होगा, बिटिया!'

एकादशी मौन बनी रही। तभी उसने आँखें खोलीं और चारों ओर देखा। शायद अनन्त को देखना चाहा। पर जब उसे वह नहीं दीख पड़ा, तो फिर आँखें बन्द कर लीं। उसने मुँह पर कम्बल डाल लिया।

दादा ने कहा—'अनन्त भैया बाहर हैं, अभी आते हैं।'

रामदीन बोला—'भैया बाहर गये हैं।'

दादा बोला—'नीचे गये हैं? क्या घूमने?'

रामदीन नहीं बोला। उसने भी वही समझा।

उसी समय एकादशी ने अपना मुँह उघाड़ कर दादा से कहा—'कल घर लौट चलेंगे। यहाँ मैं नहीं रहूँगी। शान्त नहीं बनूँगी। देखो, अनन्त से कुछ न कहना। उसे कष्ट न देना।'

दादा ने एकादशी के गरम हाथ पर फिर अपना हाथ रखा। उसे सहलाया। वह बोला—'समझा नहीं जाता बिटिया, यह अनन्त क्या है··· सच। क्या पत्थर है!"

कदाचित् इतनी बात सुनकर एकादशी कुछ कहती, किन्तु उसी समय अनन्त कमरे में आ गया। साथ में डाक्टर। वह डाक्टर को एकादशी के पास ले आया। आते ही बोला—'अभी उल्टी हुई। पित्त गिरा। निश्चय ही ठण्ड लग गयी है। कई दिन से असावधानी भी करती गयी है।

डाक्टर ने नब्ज देखी। छाती की परीक्षा की और बोला—'हाँ, ठण्ड ही लग गयी है। सावधानी की आवश्यकता है। फेफड़ों पर निमोनिया की हरकत आरम्भ हो गयी है। आज रात्रि में ठीक से नींद आई, तो कल प्रातः तक तबियत बदल जायेगी।'

जब डाक्टर जाने लगा तो अनन्त ने एकादशी के तकिये के नीचे से बटुआ ले लिया। उसने डाक्टर को फीस दी। दवा लाने के लिये राम-दीन को साथ कर दिया। डाक्टर चला गया।

उसी बिस्तर पर बैठकर अनन्त ने एकादशी के माथे पर हाथ रखा और बोला—दर्द है क्या? यह कहते हुए वह माथे को दबाने लगा। एकादशी ने चाहा कि उसे रोक दे, इन्कार कर दे। परन्तु इतना कहना तो दूर, उसकी बन्द आँखों से गरम जल निकला और वह उसके गालों पर

प्रवाहित हो गया। यह देख अनन्त ने मुँह से तो कुछ नहीं कहा, पर उसने एकादशी की साड़ी का छोर उन आँखों पर रख दिया और उन्हें पोंछ दिया। इसी बीच दादा दूसरे कमरे में चला गया। तब सिर दबाते हुये उस अवस्था में ही अनन्त बोला—'जब दो पथिक एक दूसरे पर सन्देह करते हैं, तो उन्हें पथ काटना भी दूभर हो जाता है। वे दो होकर भी अकेले रहते हैं। आज तुम्हारी भी यही अवस्था है·······मेरी भी·······'

किन्तु एकादशी मौन थी। तब भी वह आँखें बन्द किये थी। होटल के नीचे ही डाक्टर की दूकान थी। रामदीन दवा ले आया। उसने पहिले पुड़िया खाने के लिये दी। मिक्चर एक-एक घण्टा बाद। अनन्त ने पुड़िया ले ली। उसने एकादशी से मुँह खोलने के लिये कहा। पानी के साथ यह पुड़िया खिलाकर उसने दादा को बुलाया और कहा—'दादा, आज दिन भर हो गया कि चाय पीने के लिये भी मुँह नहीं खुला। अब एक प्याला चाय दो।'

दादा बोला—'तुमने भोजन भी नहीं किया। बिटिया ने कई बार पूछा, पर हमें कह देना पड़ा कि उसने आज भोजन करने से इन्कार कर दिया। 'बिटिया ने सुबह ही कहा था कि तुम्हें आलू-मटर की तावरी पसन्द है। मैंने रामदीन महाराज से वही बनाने को कहा था। तैयार है। बोलो, लायें ?'

अनन्त बोला—'हाँ, ले आओ, भूख लगी है। अब भूख जगी है।'

उसी समय एकादशी ने अपनी आँखें खोलीं और दादा की ओर देख-कर कहा—'दादा, तुम्हें इतना नहीं मालूम कि खिचड़ी या तावरी ठण्डी अच्छी नहीं लगती। अब आलू-गोभी का शाक और परावठे बनाने के लिये कहो, रामदीन धनिये की चटनी भी बना ले। शाक में पानी न डाले। आटे में जरा सा बेसन भी मिला ले, पापड़ भून ले।'

अनन्त हँस दिया—'दादा, तुम्हारी बिटिया रानी के मुँह में पानी आ गया है। जरूर, बुखार भी बहाना है।'

दादा बोला—'अनन्त भैया, तुम क्या पसन्द करते हो, बिटिया को सब पता है।'

अनन्त ने कहा—तभी तो तुम्हारी बिटिया ने मेरी नीयत खराब कर दी है। भला मुझे ऐसा भोजन क्या शोभा देता है? मुझे सूखे चने मिल जायें, तो वही मेरे भाग्य का बड़ा सौदा है।'

किन्तु दादा चला गया। अनन्त केवल एकादशी के पास रह गया। उसी समय अनन्त ने एकादशी के बालों में हाथ फेरा। वह उन बालों को सहलाने लगा। उसी अवस्था में वह बोला—'अपने मन को इतना दुर्वल रखोगी, तो आज समझ लो, तुम इस अनन्त को भी धोखा दे जाओगी। समझती तो हो, मुझे तुम्हारी आवश्यकता है। परन्तु मैं यह समझने के लिये सदा भ्रम में रहता हूँ कि क्या तुम्हें भी मेरी आवश्यकता है।' इतना कहते हुए उसने एकादशी का सिर अपनी गोद में रख लिया। वह उसके मुँह पर झूम गया। उसने कहा—'मैं यह नहीं चाहता कि मेरे समान तुम भी योगी का पाठ पढ़ो। तुम भी अपने वैभव से शून्य रहो। मैं, सोचता हूँ बार-बार मन में उठती हुई इस बात को दोहराता हूँ कि संसार के इस वैभवपूर्ण जीवन में आकर, तुम्हारे निकट बैठकर, मैं अपनी साधना को भूल जाऊँगा। मैं अपनी इस दुर्वलता को तुम्हारे समक्ष रखते हुए इसलिये भी नहीं हिचकिचाता कि जानता हूँ तुम इसका गलत अर्थ न लगाओगी। तुम मेरी वास्तविकता को समझोगी।' अनन्त ने इतना कहा और वह एकादशी के मुलायम, गोरे गालों पर अपना हाथ फेरने लगा।

एकादशी ने अपने पलक उठा दिये। अपनी दोनों बाहें भी उठा दीं

और अनन्त के ऊपर डाल दी। वह अनन्त के झुके हुए मुँह पर अपनी गरम साँसें छोड़ने लगी। वह एकाएक ही जैसे बरबस और चंचल बन गयी। उसने अपनी दोनों बाँहों में अनन्त को पकड़ लिया और उसके अत्यधिक निकट हुए मुँह पर अपने दुर्बल होठों को रख दिया। क्षण भर में वे दोनों इस प्रकार आलिंगन में आबद्ध हो गये कि मानो बहुत दिनों की प्रतीक्षा के बाद उस समय मिले हैं। वे उत्कण्ठित और याचक बने आत्मसात हो गये थे········

: ३२ :

पिछली रात जितनी कठोर और विषम बनकर गुजरी, प्रस्तुत रात्रि उतनी ही सुखद और मनोरम बनकर आई। अनन्त ने भोजन कर लिया। एकादशी का बुखार भी उतर गया। अपने कमरे में दादा और रामदीन सो गये। किन्तु अनन्त और एकादशी जाग रहे थे। रात्रि के उस भरे प्रहर में एकादशी ने अपनी आँखें अनन्त की आँखों पर टिका दी थी और वह कह रही थी—'आज मैं तुमसे कहती हूँ, सहर्ष बताती हूँ मैं, तुम्हें बन्धन में नहीं रखूँगी, तुम तपस्वी बनो। अपने कार्य में लगे रहो। मैं केवल तुम्हें अपना पति मानकर ही, इस जीवन में सुख अनुभव करूँगी। मैं अब लोगों से कह दूँगी, तुम्हीं मेरे पति हो!'

अनन्त उस समय गम्भीर नहीं था। वह रसिक बना हुआ था। भोजन के उपरान्त ही, वह एकादशी के बिस्तर पर पड़ गया था और ढलती रात के बाद भी, जग रहा था और बड़ी तल्लीनता के साथ एकादशी की बातें सुन रहा था। इसके विपरीत, एकादशी बैठी थी। परन्तु जब देर हुई, तो वह भी पड़ गयी। दिन में बुखार आने के कारण उसने कुछ खाया नहीं था। इस लिये दुर्बलता भी अनुभव कर रही थी। किन्तु उन क्षणों में वह निश्चय ही एक अजीब प्रकार की अनुभूति से पूर्ण बनी, अपने-आप में डूबी हुई थी।

जब अनन्त ने एकादशी की पति-पत्नी विषयक बात सुनी तब वह तनिक मुस्कराया। एकादशी की ओर करवट लेकर बोला—'तो क्या तुम समझती हो कि यह व्यावहारिक है ? निभनेवाला ; ?'

एकादशी ने अपने स्वर पर जोर देकर कहा—'क्यों नहीं, यह निभेगा !' इस संसार में जाने क्या-क्या व्यावहारिक नहीं है ! बोलो, हमारा इस प्रकार का मिलन, उठना-बैठना, यों एक विस्तर पर पड़ जाना ही, समाज की दृष्टि में उचित है। समाज इसे भी पाप मानता है और नारी के लिये अशुभ समझता है !'

किन्तु अनन्त ने जैसे एकादशी की पूरी बात पर ध्यान नहीं दिया। वह अपने मन की बात लेकर बोला—'और लोग यह न कहेंगे कि कंगाल अनन्त ने जमींदार की बेटी को ठग लिया। तुम्हारे सम्बन्धी कुपित होंगे और मुझे मार देंगे।'

इतनी बात सुन एकादशी हँस पड़ी और बोली—'कायर कहींके !'

लेकिन अनन्त ने उसी स्वर में फिर कहा—'मेरी बदनामी होगी। मुझे अप्रतिष्ठा मिलेगी। समाज में तुम्हारी भी हँसी होगी।'

एकादशी ने दुलार के साथ, अनन्त के सिर के बालों में अपनी ऊँगलियाँ दे दीं और कहा—'तो अभी कौन बड़ी प्रतिष्ठा पाते हो तुम ! बदनामी से डरते हो ! 'मैं बच्ची नहीं हूँ, सब समझती हूँ कि लोग तुम्हारी साथ मेरी चर्चा करते हैं·······वे कहते हैं जमींदार की बेटी अन्धी बन गयी है, कुएँ में डूब मरने चली है।' उसने अपने स्वर पर जोर दिया और फिर कहा—'लोग दूसरों की अलोचना करना पसन्द करते हैं। उन्हें आनन्द आता है।'

अनन्त हँस पड़ा और बोला—'इस दुनिया में एक सुनील ऐसा व्यक्ति अवश्य है कि जिसे मेरा-तुम्हारा यह मिलन पसन्द नहीं होगा। वह कुत्पित होगा। वह निश्चय ही··········'

बीच में ही एकादशी तुनुक गयी—'वह कौन है ? बदमाश है, वह ! कमीना है ! मेरा रुपया चाहता है। औरत का रूप देखता है। वह स्वार्थी है। दम्भी भी है। आदमी के रूप में कुत्ता............'

अनन्त का हाथ एकादशी की बाँह पर पड़ा था। उस नंगी बाँह को वह सहलाने लगा। कभी उसके हाथ में पड़ी काँच की चूड़ियों में अपनी उगँलियाँ उलझाने लगा। उसी अवस्था में उसने एकादशी का हाथ दाब कर कहा—'गुस्सा मत करो। मन शान्त रखो। इस विषय को इतना गहन भी मत बना डालो।'

किन्तु एकादशी ने उसी प्रकार लाल बन कर कहा—'अनन्त' तुम क्या कहते हो। यह विषय ही गहरा है। मेरी इससे बड़ी और क्या कामना हो सकती है ? इसी धुरी पर नारी के जीवन का पहिया रखा है। यदि इस चुनाव में नारी ने भूल की, तो फिर क्या उसे सुख मिल सकता है ? मेरे लिये इससे बड़ा विषय और कोई नहीं। अब तक सुनती आई थी कि बसन्त आता है। वह अपने जीवन के साथ एक अजीब प्रकार की मस्ती और मदहोशी लाता है। पर अपने इस यौवन काल में, जीवन की इस चढ़ी दोपहरी में मैंने समझा है कि बसन्त क्या है, उसका मर्म क्या....'

उसी समय अनन्त ने और अधिक कस कर एकादशी का हाथ पकड़ लिया। वह उसी हाथ को अपनी छाती पर रखता हुआ बोला—'तो एकादशी, लो, मैं प्रस्तुत हूँ। तुम्हारे जीवन में बसन्त आये, हर्ष आये, मदहोशी आये, उसका स्वागत करने के लिये यह अनन्त,—सच, अनन्त-काल तक तुम्हारे साथ चला चलेगा। तुम्हारी खुशी में यह भी अपनी खुशी मनायेगा !'

लेकिन इतना सुनकर एकादशी ने एकाएक अपना मत नहीं दिया

कदाचित् उससे कुछ कहा नहीं गया। वह लज्जा गयी। फिर कमरे की छत की ओर देखने लगी। उसकी साँस भी तेज चलने लगी।

अनन्त ने फिर कहा—'बोलो, कहो, कुछ! तुम्हें जो कुछ पाना है, वह पाओ। मेरे समान तुम भी समझो कि हम आज ही एक नहीं, देर से हैं, भूतकाल से साथ-साथ चले आये हैं।'

एकादशी ने कहा—'अनन्त, यह मत भूलो कि तुम इस एकादशी के प्रेमी या पति नहीं, अपितु गुरु भी हो। इस भरे विश्व में भले ही मैंने किसी और को न समझा हो, पर तुम्हें समझ लिया है। तुम्हारे मन की अवस्था भी पहचान ली है। इस लिये मैं स्वयं नहीं चाहती कि नारी की स्थिति में मैं तुम्हारा दुरुपयोग करूँ! तुम मेरे लिये कोरी निधि हो, जिसका मूल्य मेरे लिये बहुत है। निर्धन के समान, मैं उसे छाती से लगाये रखना चाहती हूँ। खर्च करना नहीं चाहती। मैं तुम्हें अपने प्राणों में छुपाकर रखना पसन्द करती हूँ।'

सहज भाव से अनन्त ने कहा—'तुम अब भी विक्षिप्त हो, अपने पथ पर ही खो रही हो। तुम मुझे भी विक्षिप्त बना देना चाहती हो।'

इतना सुनते ही एकादशी ने अपना सिर उठाया और वह अनन्त की बाँह पर रख दिया। उसने अपना मुँह उसकी छाती से सटा दिया, उसी अवस्था में वह बोली—'न' अनन्त! मैं विक्षिप्त नहीं......सच आज मुझ में उत्तेजना नहीं! नारी का वह मादक स्फुरण भी मेरे पास नहीं। जैसे मेरी उन इन्द्रियों का मुँह बन्द हो गया है। तुम्हारे पास होते ही, जाने कैसे अनिवर्चनीय आनन्द में मुझे डूबा लगता है, इन्द्रियों का व्यापार थोथा है, घृण्य है! यह कहते हुये एकादशी ने अपना मुँह और अधिक अनन्त की छाती पर सटाया और कहा—'आज तुमसे कहती हूँ, वासनामयी नारी के रूप में, अब मैं तुम्हारी कल्पना नहीं

करती। मैं तो अब एक अजीब प्रकार की इच्छा करती हूँ। यद्यपि बात देर से मेरे मन में थी, पर उस रात जब तुम पहाड़ी परिवार में गये, उस लड़के की सेवा करने लगे, तो तभी मेरे मन में भावना उठी कि तुम्हारा उपभोग यह नहीं, और है। वह अपूर्व है, तेजोमय है। मुझे भी वही करना है। मैं अब तुम्हारे शरीर को नहीं भोगना चाहती, आत्मा से सम्बन्ध बनाना है। मेरा उसी से रिश्ता है। इस देश की क्षत्राणी युद्ध-क्षेत्र में जाने वाले पति की कमर में तरवार बाँधती, तिलक लगाती और समय पड़ने पर अपना सिर काट कर भी भेंट करती थी। तो अनन्त अब मैं तुम्हारी ऐसी ही सहधर्मिणी बनना चाहूँगी। तुम कहीं भी जाओ, मैं तुम्हारी पूजा करूँगी। ऐसी अर्चना, ऐसी अपूर्व साधना अब मैं अपने जीवन में उतार कर देखूँगी। मैं तुम्हें जनता जनार्दन की जिस भक्ति-भावना में डूबा हुआ पाती हूँ, उसी में लीन हुआ, उसी में डूबा हुआ देखना इस जीवन में पसन्द करूँगी। तुम जनता के पुजारी बनो, मैं तुम्हारी पुजारिन!'

उस समय एकादशी ने जब अपनी बात कही, तब उसने अनन्त की छाती की धड़कन सुनी। उसी छाती पर अपना हाथ फेरते हुए एकादशी ने फिर कहा—'मेरे अनन्त, सच, तुम अनन्त हो! मैं मानती हूँ, तुम मुझसे पीछे भी मिल चुके हो। मेरे पति बने हो। पर इस जन्म में,—इस प्रवास में—तुमने मुझे जो अनिवर्चनीय सुख प्रदान किया है, उसके लिये यह एक जीवन क्या, इस एकादशी का धन-धान्य क्या, विश्व का सभी कुछ निछावर करा सकती हूँ। लोग कहते हैं कि नारी पति के बाद सन्तान चाहती है। पर मुझे तुम्हारे अतिरिक्त और कुछ नहीं चाहिये। मैं शरीर का व्यापार पसन्द नहीं करती। तुम जिस पथ पर चलोगे, मैं उसी पर जाऊँगी। मैं तो स्वयंसिद्ध के समान तुम्हारे मार्ग

के काँटे चुनूँगी। शरीर मेरा नहीं है, समाज का है, तो यह उसे लौटा दूँगी। मेरा कोई इच्छा नहीं। मुझे धन की भी आवश्यकता नहीं।'

उसी समय अनन्त ने साँस भरी—'काश, यही सत्य हो! तुम्हारी जिह्वा पर यही भगवान की वाणी हो।'

एकादशी ने अनन्त को और अधिक पकड़ लिया और कहा—नहीं अनन्त, यही सत्य है। यही भगवान की वाणी है। मुझे यही करना है। यहाँ से लौटकर मुझे ऐसे ही जीवन में पैर रखना है। देखते हो न, हम प्रकृति की गोद में बैठे हैं, वह हमें आशीष देती है।'

अनन्त बोला—'तुम घाटे का सौदा कर रही हो! इस सुहावने जीवन को मार रही हो!'

एकादशी ने अपने स्वर पर जोर देकर कहा—'नहीं, अनन्त! यह मेरी भावना है। एकान्त इच्छा है! इस एकादशी का प्रण है। मैं तुम्हें नहीं बाँधती। तुम स्वतंत्र हो।'

उसी समय अनन्त ने फिर साँस भरी और छोड़ दी। उसके मन में बात थी कि एकादशी जो कुछ कह रही है, वह निभने वाली नहीं। उसमें टिकाव नहीं, व्यावहारिक नहीं। यह यौवन, यह वसन्तकाल भला अपना प्रभाव डाले क्या टल सकता है? इसने सभी को आकर्षित किया है। मुझे भी करता है। इसके लिये जिस साधना की आवश्यकता है, वह मेरे पास नहीं, एकादशी के पास नहीं। यह कोमल है। अनुभूतिमयी है।

एकादशी ने अपना मुँह उठाकर कहा—'क्या सो गये! बोल नहीं रहे हो। आज हमारी अच्छी रात्रि है। सुखमय है। मैं तुम्हें सोने नहीं दूँगी। देखो, तुम मेरी चिन्ता न करो। हाँ, समझती तो हूँ कि तुम्हारे मन में बात होगी कि यह एकादशी''''''यह जीवन को भोगने की अभिलाषिणी''''''न, किन्तु अनन्त, मैंने तुमसे बहुत कुछ सीख लिया है।

इतना पा लिया है कि जीवन कैसे रखा जा सकता है। अब मेरा मन कठोर बन गया है। पक गया है।'

यह सुनकर अनन्त ने उसका मुँह अपनी छाती से दाब लिया और बरबस बोला—'मेरी एकादशी !'

उसी अवस्था में एकादशी बोल पड़ी—'मेरे अनन्त !'

किन्तु तभी अनन्त बोला—'सोचता हूँ, तुमने पाया क्या ? मुझसे लिया क्या ?'

एकादशी बोली—'मैंने तुम्हें पा लिया है,—बस !'

सुनकर अनन्त हँस दिया और बोला—'यह भिखारी,—बस !'

आल्हादित बनकर एकादशी ने कहा—'हाँ, यही। मेरे लिये यही पर्याप्त है। इसी में मेरा भला है। यही मेरा चिर-सोहाग है।'

किन्तु इतना सुनकर भी अनन्त ने अपने सूखे होठों पर जीभ फेरी और कहा—'कोरी भावना में व्यवहार नहीं बोलता, एकादशी ! ऐसे तो स्थिरता का भी आभास नहीं मिलता। शायद जीवन का वास्तविक रूप भी नहीं दिखायी देता।'

इतना सुनकर एकादशी ने अनन्त को छोड़ दिया। उसने पूर्ववत् तकिये पर सिर रख लिया और कहा—'अब तक मैंने भी यही समझा। सर्वत्र यही सुना। पर अब सोचती हूँ, आँधी सिर पर है। वह मुझे उड़ा रही है। देखती हूँ उसका उत्तर भी निकट है। तब स्थिरता है। इस यौवन के बाद ही बुढ़ापा है। इस एकादशी का रूप, यौवन, सभी-कुछ तो मिट जानेवाला है। तुमने जिस जीवन के प्रथम चरण में एक अपूर्व आनन्द की खोज की, वह मुझे सदा आकर्षित करता रहा। कह सकते हो, यह मेरे संस्कारों की बात है। मैं जब-तब रोमांचित हुई, हवा के साथ उड़ने

लगी, तुम्हारा मिलन मुझे अप्रत्यक्ष बनकर सहारा देता रहा है। मैं अपने पर लजायी हूँ। मौन रही हूँ।'

बरबस अनन्त ने कहा—'अरी एकादशी!'

एकादशी बोली—'हाँ अनन्त! मैं आज इस रहस्य का उद्घाटन करती हूँ। जब तब तुम मेरे पास आये हो, तो एक अपूर्व सुगन्ध मेरे चारों ओर छितरा गये हैं। मैं उसी से परिप्लावित हुई हूँ। मदहोश बनी हूँ। मैं एक अजीब प्रकार की भावना से भरी, सदा तुम्हारे लौट आने की प्रतीक्षा करती रही हूँ। सुनील के समक्ष मैंने कभी भी अपने को क्षुद्र नहीं समझा। पर तुम हो, कि जैसे पर्वत के समान मुझे सदा लगे हो। तुम्हारे समक्ष मैं तिनका हूँ, जैसे बाल का कण, या समुद्र में गिरती एक बूँद। मैं अपने को सदा ही तुम्हारे समक्ष क्षुद्र मानती आई हूँ और जानते हो, नारी की यही माँग है। नारी झुकने में आनन्द पाती है। वह पुरुषत्व की पूजा करती है।' यह कहते हुए एकादशी चलते हुए लैम्प की ओर देखने लगी। उसी ओर देखते हुए वह बोली—'मेरा यह पुराना नौकर दादा जिसने मुझे पाल-पोसकर बड़ी किया, एकबार नहीं, हजारों बार कह चुका है, मुझे बता चुका है कि तुम इन्सानों के सिरताज हो,—हीरा हो! दादा पढ़ा-लिखा नहीं, परन्तु सभी कुछ समझता है। वह कह चुका है कि जिस भावना को, इन्सान के जिस दर्द को तुम अनुभव करते हो, उसे और कोई नहीं देखता। तुममें तड़प है, टीस है और वेदना है।' इतना कहते हुए एकादशी ने देखा कि अनन्त की आँखें भरी हैं और वे उसके गालों पर निकल आई हैं। यह देख, एकादशी बरबस ही फिर अनन्त की उन आँखों पर झुक गयी और अपनी आँखें पटक कर बोली—ऐ अनन्त, ऐ मेरे दिल के मालिक, आज इतना और सुन लो, मैं तुम्हारी आँखों के इन आँसुओं को ही गवाह बनाकर कहती हूँ, यदि मैं दुलहिन

बनकर किसी और घर जाती, तो सच, अधिक दिन जीवित न रह पाती। मैं वहाँ भी तुम्हारी कल्पना करती·······तुम्हारी वाणी में ही अपने को खोया पाती। मैं तुम्हारे आँसुओं के साथ········'

एकाएक अनन्त ने फूटकर रोते हुये कहा—'एकादशी, मानव तड़प रहा है·······सिसक रहा है! तुम्हारा यह यौवन, तुम्हारा यह रूप, मुझे मानव की लाश पर खड़ा हुआ दीखता है!'

जैसे एकादशी पछाड़ खागयी। वह कटी डाल की तरह नीचे गिर पड़ी। वह छटपटा गयी। उसी अवस्था में बोली—'अनन्त, मुझे पता है। मैंने तुम्हारे मन की पीड़ा को समझा है!'

अनन्त ने एकादशी का मुँह दोनों हाथों में ले लिया और जब उसने एकादशी को भी रोती पाया, तो अत्यन्त भावना मय बनकर बोला—दादा ने ठीक कहा। तुमने भी ठीक समझा। मेरे जीवन में जो हाहाकार है, वह बड़ा है। वह मुझे प्रतिपल अशान्त रखता है। इसी से मेरे पास हर्ष नहीं, सुख नहीं, चैन नहीं। पीड़ा है, व्यथा है, मानव की तड़प और चीख है। वे मुझे सताती है। वे क्या मुझे चैन से बैठने देती हैं। शायद यही मेरा नशा है·······यही मेरी नारी·······'

किन्तु दिखता यह था कि उन दोनों के आँसू, उन दोनों की पीड़ा, उन दोनों के मन का उद्वेग, जीवन के उन क्षणों में, सचमुच ही समान रूप से,—एक रूप से—आत्मीयता के भाव से भरपूर बना, उन आँसुओं में सना हुआ, दीख रहा था, उस एकान्त में और उस रात्रिमें एक ही बिस्तर पर पड़े, उन दोनों को आग का अंगारा न बना कर, बर्फ बनाये हुआ था।

जब अनन्त ने एकादशी के आँसू पोंछ दिये, तो वह बोली—'तुम मुझे भी अपने पथ पर चलने दो, यही पाने दो, हमारा यही विवाह

है ! इस मिलन का यही ध्येय ! तुमने तो मुझसे कहा कि जीवन तो आता और जाता है। यह फिर भी मिलेगा। तो अब इस जीवन को देखने दो। मुझे भी पीड़ितों के आँसुओं में डूब जाने दो।'

अनन्त ने इतनी बात सुनी, तो एकमत बन, उसने अपनी दोनों बाँहें पसार दीं। एकादशी उन्हीं बाँहों में समा गयी। उसी अवस्था में वह बोली—'मेरे तुम, एकान्त और एक!'

अनन्त ने इतना सुना, तो वह कुछ नहीं बोल सका। वह एकादशी को अपनी बाँहों में लिये, बाहर पर्वत के ऊपर उठ आये नव-प्रभात की ओर देखने लगा.......जैसे वह किसी अलौकिक और परम कल्पना में लीन हो गया..........

: ३३ :

प्रातः के समय घूमकर लौटने पर नगर की ओर चलते हुए एकादशी ने रास्ते में ही अपने आप निश्चय किया कि वह अब मसूरी में नहीं रहेगी, गाँव लौट जायेगी। किन्तु होटल तक पहुँचते हुए, अनन्त और एकादशी दोनों थक गये थे। रात के जागरण से भी शिथिल बने थे। देखा, अनन्त विस्तर पर पड़ गया और कुछ देर बाद ही सो गया। बाद में एकादशी भी सो गयी। दिन कट गया किन्तु सन्ध्या आई तो अनन्त के मन में अपने-आप ही कुछ आ-जा रहा था। एकादशी मौन थी। वह जब सोकर तभी, से, जैसे अपेक्षाकृत विपरीत बन, कुछ और हो गयी थी। वह अनन्त के समक्ष भी अधिक विनम्र दिखाई देती थी। लेकिन अनन्त के पास जैसे सोचने और कहने के लिये कुछ नहीं रह गया था। वह केवल एक ही बात पर टिका था कि मैं फिर यहाँ आ गया.......एकादशी के पास से गया था और लौट आया.......'

यों दिन बीत गया। रात आ गयी। अन्य दिनों के समान दोनों में न कोई बात चली, न तर्क हुआ। अनन्त उठकर पढ़ने और लिखने में लग गया।

रात में दादा ने एकादशी के पास आकर कहा—'बिटिया रानी आज तुम कहीं नहीं गयी! दिन भर यही रहीं!'

उदास भाव से एकादशी ने कहा—'अब कहाँ जाती, दादा! कल गाँव जाऊँगी।'

चकित बन कर दादा ने कहा—'अभी से! भला कितने दिन हुये हैं, यहाँ आये!'

एकादशी ने फिर अपनी बात नहीं कही।

उस समय अनन्त बिस्तर पर पड़ा एकादशी की बात सुन रहा था।

तभी दादा ने उसी को लक्ष्य किया—'क्यों भैया! कल ही चलने का बिचार है क्या? कुछ और नहीं रहोगे?'

अनन्त मौन था। बात सुनकर, वह केवल मुस्करा कर रह गया। फिर वह अखबार उठाकर देखने लगा।

किन्तु दादा ने फिर कहा—'यहाँ आये और न आये समान रहे। न घूम पाये, न पहाड़ की रौनक देख पाये! यह कहते हुये वह दूसरी ओर चला गया। उसके मन में जो देर से बात थी वह स्पष्ट हो गयी। वह सोच रहा था, प्रातः घूमने जाकर दोनों में विवाद चला है। झगड़ा हुआ है! किन्तु वह इतना जानता था, दोनों में से झगड़ालू कोई नहीं। बिटिया अनन्त के विरुद्ध नहीं चलती। सभी बातें मानती है।

पिछले दिन ही, दादा ने अनन्त से कहा था कि बिटिया ने सुनील बाबू को फटकार दिया, यह अच्छा नहीं किया। उससे सदा के लिये सम्बन्ध तोड़ लिया। इस बात को सुनकर अनन्त को भी कुछ भला नहीं

लगा। उसकी इच्छा थी कि एकादशी से कहे, नारी को पुरुष का अपमान नहीं करना चाहिये। तुमने विवेक रहित काम किया। किन्तु वह इतनी सी बात को कह नहीं पाया।

जब एक और नया प्रातः आया तो अनन्त अपने नित्य-कर्मों से निवृत्त बन, कहीं जाने की तैयारी करने लगा। उसने अपनी किताबें झोले में रख ली, बिस्तर बाँध लिया। एकादशी सो रही थी। जब अनन्त सचमुच ही तैयार हो गया, तो उसने एकादशी को जगाया। वह बोला—'तुम सो रही हो, उठो। मैं जा रहा हूँ। सबेरा हो गया।

एकादशी उठ बैठी। अनन्त को तैयार देख, उसने कहा—'यह क्या है? तुमने बिस्तर बाँध लिया है!'

अनन्त ने कहा—'हाँ, मैं जा रहा हूँ न! एक विशेष काम आ पड़ा है।'

'गाँव नहीं चलोगे!'

'नहीं एकादशी! मैं अभी गाँव नहीं जा सकूँगा। दूसरी ओर जाऊँगा।'

एकादशी उठ गयी वह दूसरी ओर चल पड़ी। जब वह कुछ देर बाद लौट कर आयी, तब उसे देख, अनन्त खड़ा हो गया। वह जाने के लिये प्रस्तुत हो गया।

तभी दादा कमरे में आया। एकादशी ने कहा—'यह जा रहे हैं दादा अन्यत्र जा रहे हैं।'

सुनते ही दादा ने कहा—'अनन्त भैया.........'

अनन्त बाहर की ओर देख रहा था। सुनकर दादा की ओर देखने लगा।

दादा ने याचना भरे स्वर में कहा—'तुम गाँव चलो अनन्त भैया, और कहीं नहीं।'

अनन्त ने कहा—'यह कैसे होगा दादा! मुझे जाना है। मेरी पुकार है। आत्मा की पुकार है।'

'कब आओगे?'

'यह भी ठीक नहीं। कोई निश्चय नहीं, दादा!'

'ओह, तुम इतना भी सोचते हो! अब तुम यह भी करना चाहते हो।' अधीर भाव में दादा ने कहा—'पानी में आग लगा कर दूर जाना चाहते हो! न, भैया! तुम भी हृदय लिये हो। कुछ सोचो-समझो। तुम जिसके पास उठे-बैठे हो, उनकी ओर भी देखो।'

अनन्त ने झोला उठा लिया और एकादशी की ओर देखकर बोला—'यह दादा कुछ और सोचता है। शायद समझता है कि मैं पत्थर हूँ। हृदयहीन हूँ। शायद यह भी हो! किन्तु मैं तो जाने कब से जाना चाहता था। जा नहीं सका। अब जाऊँगा। वह मुहूर्त्त आ गया। तुम भरोसा रखो, मैं तुमसे दूर न हो सकूँगा। एक दिन अवश्य ही, तुम्हारे द्वार से जा लगूँगा। मुझे याद है, तुमने उस दिन एक अन्य नारी के सम्मुख मुझे अपना पति स्वीकार किया था। निश्चय ही अब मैं उसकी रक्षा करूँगा।'

उस समय दादा चला गया। वह जैसे जान-बूझ कर वहाँ से हट गया।

तभी अनन्त ने फिर कहा—'मैं उस दिन जाकर भी तुम्हें फिर मिल गया। तुमने पा लिया। जानता हूँ, उस रात में तुम्हें बड़ा कष्ट हुआ होगा। वह अच्छा ही हुआ। अन्यथा, दोनों के मध्य भ्रम खड़ा रहता। मैं इस ब्रह्म मूहूर्त्त में, निरी प्रसन्नता से भरा, तुमसे विदा ले रहा हूँ।

तुममें जो इस अनन्त के प्रति मोह आ गया है, तुमने जो मुझे अपना सरस प्यार भेंट किया है, तो मैं उसी आधार पर टिका, अपना सफर पार कर दूँगा। मैं सदा अनुभव करूँगा कि मैं अकेला नहीं हूँ। मैं तुमसे बँधा हूँ। चाहता हूँ कि तुम मुझे सहर्ष विदा दो और स्वयं अपने पथ का निर्माण करो। तुमने सुनील से जो कुछ कहा, वह अच्छा प्रसंग नहीं रहा। किन्तु अपने जीवन में जिस सत्य से तुम आज तक भी आँख नहीं फेर सकी हो, उसके प्रति आकर्षित बनी हो, तो उसके लिये एकबार फिर सोचो। अपना पथ प्रशस्त करो। मैं जिस भावना पर टिक कर तुम्हारे प्रति झुका, उसमें कोई अन्तर नहीं आयेगा। मैं सदा उसे सँजोता रहूँगा। उसे अपने हृदय के सुरक्षित स्थान में रखूँगा। मैं सदा के समान आगे भी चाहूँगा कि उसे मलिन न बनने दूँ। इसीसे, मैं दूर ही रहा हूँ। तुम्हें अकेला छोड़ना चाहता हूँ।'

एकादशी बोली—'तुम्हारे पास कुछ नहीं है। जेब खाली है।'

'सो मैं जानता हूँ। जिस दिन मुझे कुछ चाह होगी, वह तुमसे पूरी हो जायेगी!'

किन्तु एकादशी ने फिर अपने स्वर पर जोर दिया—अब भी तो चाहिये!'

सहज भाव से अनन्त बोला—'अब कुछ नहीं,—हाँ, नहीं!'

एकादशी नीचे झुक गयी। अपूर्व श्रद्धा के साथ उसने अनन्त के पैरों पर अपना सिर रख दिया और कहा—'जब तुम जा ही रहे हो, तो मैं क्या कहूँ! तुम मुझे भूल नहीं जाओ, मैं केवल इसी की याचना करूँगी। तुम्हारे लौट आने की आशा सदा सँजोती रहूँगी। मैं तुम्हारे रास्ते में काँटे नहीं बिछाऊँगी, फूल बिछाना ही पसन्द करूँगी।'

अनन्त की आँखें उठी थीं। वह ऊँचे पर्वत की ओर देख रहा था।

अतिशय गम्भीर और भावुक बना था। उसी प्रकार बना हुआ वह बोला…
'यह अनन्त तुम्हें सदा याद करेगा, एकादशी! जब भी आवश्यकता होगी यह तुम्हारे पास दौड़ा आयेगा। अपने जीवन की समस्त पूजा और आकांक्षाएँ तुम्हें समर्पित कर देगा।' यह कहते हुये उसने एकादशी को ऊपर उठा लिया। वह उसकी भरी आँखों में झाँकने का असफल प्रयत्न करता हुआ बोला—'मैं जहाँ भी जाऊँगा, तुम्हें पत्र दूँगा। मैं तुम्हारे लिये अनभिज्ञ नहीं रहूँगा।' यह कहते हुए उसने विस्तर भी उठा लिया और चल दिया।

द्वार पर दादा खड़ा था। देखते ही उसने कहा—'तो अब यही सोचा अनन्त भैया! नहीं माने। अब बिटिया रोयेगी। न जाने कैसे दिन काटेगी। सच, तुमने सब-कुछ देखकर भी, कुछ नहीं देखा। कुछ ध्यान नहीं किया।'

अनन्त बोला—'मैंने तुम्हें सभी कुछ बता दिया है दादा! अब और क्या! मेरा यही मार्ग था। वैसे मैंने एकादशी से कह दिया है। उसे समझा दिया है, राम, राम!'

दादा ने काँपते स्वर में कहा—'राम राम!'

अनन्त चला गया। वह दूर तक जाता हुआ दादा और एकादशी को दिखायी देता रहा। जब वह अपने पथ पर अदृश्य हो गया, तो साँस भर कर दादा ने जैसे एकादशी को सुनाने के अभिप्राय से कहा—'वह सुनहरी पंक्षी था, उड़ गया! उड़ा दिया गया!'

एकादशी ने जैसे साँस रोक कर दादा की बात सुनी और उसकी ओर देखा।

दादा ने बिटिया की ओर देखकर कहा—'हाँ, बिटिया रानी, अनन्त भैया अपनी इच्छा से नहीं गया है। उसके पास जितनी चिट्ठियाँ आईं,

वे सब मुझे दे गया है। उन सभी में उसे मार देने की धमकी दी गयी है। उसे चरित्र भ्रष्ट और ठग बताया गया है। झूठा और लम्पटी भी कहा गया है।' यह कहते हुए दादा और अधिक एकादशी के पास आ गया और बोला—'बिटिया, अनन्त भैया को मार देने का जाल बिछाया गया है। उसे बदनाम किया गया है कि वह तुम्हारे शरीर का तो मालिक बना ही; जायदाद का भी स्वामी बनना चाहता है। सुनील—फूआ और तुम्हारे सभी सम्बन्धियों ने अपने रास्ते में आये अनन्त भैया रूपी काँटे को हटा देना पसन्द किया है।'

एकाएक एकादशी ने अपना सिर पकड़ लिया और चीख कर कहा—'ओह! सचमुच!'

दादा बोला—'अनन्त भैया ने मुझे कल ही सब कुछ बता दिया। पर उसने मुझे कसम दिला दी थी कि मैं तुमसे उसके रहते कुछ न कहूँ। कल ही यहाँ एक आदमी आकर छिपा था। उसके हाथ में छुरा था। उसने समझा कि अनन्त भैया अपने विस्तर पर पड़े हैं, कम्बल ओढ़े हुए हैं। उसने छुरा मारा और भाग खड़ा हुआ। पर देखो न भगवान की कैसी कृपा हुई, अनन्त भैया तुम्हारे विस्तर पर पड़ा था। वह तुम्हारे ही भाग्य से बच गया।' यह कहते हुये उसने वह छुरा पलंग के नीचे से उठा कर एकादशी के सामने रख दिया। वे पत्र भी जेब से निकाल कर रख दिये जिन्हें अनन्त उसे दे गया था।

उसी समय दादा ने कहा—'बिटिया, अनन्त भैया को अब यही करना था। उचित भी था।' कहते हुए वह बाहर चला गया।

एकादशी ने एक-एक कर सभी पत्र पढ़ लिये। वे सभी धमकी भरे पत्र थे। कुछ सम्बन्धियों के हस्ताक्षरों से युक्त थे। कुछ गुमनाम थे। उन सभी को देख, एकादशी को लगा कि सचमुच, अनन्त के चारों ओर,

काँटे बिछे हैं। मौत किलकिला रही है। एकादशी के कारण उस अनन्त का जीवन दुःसह बन गया है। कुछ पत्रों में एकादशी को भी हानि पहुँचाने की बात कही गयी थी।

कुछ देर बाद दादा ने आकर कहा—'क्या खाना बनेगा बिटिया !'

बिटिया ने साँस भरी और उदास आँखों से दादा की ओर देखा।

दादा बोला—'अनन्त गया, तो यह कमरा भी सूना हो गया। वह था, तो बातें चलती थीं, शोर होता था। अनन्त के लिए तुम्हें भोजन का भी ध्यान रखना पड़ता था। अब क्या ?'

एकादशी बोली—'इन पत्रों की बात मुझे पहले बता देनी थी मैं अनन्त को न जाने देती।'

दादा ने कहा—'न बिटिया ! अनन्त न मानता। वह अवश्य ठगता। उसे तुम्हारा अधिक ध्यान था। पढ़ लिये न, पत्र ! वह कहता था, लोग तुम्हें भी कष्ट देना चाहते हैं। शायद······हाँ·······'

एकादशी बोली—'मैं मौत से नहीं डरती, दादा ! अनन्त कायर था। भाग गया। वह मौत से डर गया।'

दादा वहाँ से हट गया। एकादशी के मन की अवस्था उस समय अच्छी नहीं थी, इसलिये वह उसकी दृष्टि से दूर हो गया। किन्तु कमरे में अकेली बैठी हुई एकादशी के मन में बात आई कि वह अभी जाये और अपने रास्ते पर बढ़ते हुए अनन्त को पकड़ लाये। परन्तु अनन्त तो दूर निकल गया होगा। पहाड़ की किसी भी खोह में छिप गया होगा। वह उस पर्वतीय क्षेत्र में ही सेवा का कार्य करेगा। जाने कहाँ-कहाँ घूमेगा। तभी एकादशी ने अपने कलम से अनन्त की लिखी किताब की पाण्डु-लिपि निकाल ली। वह उसे देखने लगी। वह काव्य एकादशी को समर्पित किया

गया था। उसने लिखा था कि उस काव्य को लिखने की प्रेरणा और भावना उसे एकादशी से प्राप्त हुई है।

जब दादा चाय बनाकर लाया, तो वह बोला—'बिटिया रानी, अनन्त भैया देर तक दूर नहीं रहेगा। वह आ जायेगा।'

एकादशी ने किताब रख दी और साँस भर कर बोली—'दादा; मुझे पता है। मेरे प्रति उसके अन्तर में क्या डोलता है, उसे मैंने समझ लिया है।' फिर उसने दादा की ओर देखकर कहा—'पिछली रात क्या हम सोये थे! दोनों ही रात भर हँसते रहे और रोते रहे! सच, उसने मेरा अजीब जीवन बना दिया है! उसके बगैर क्या मुझे कुछ अच्छा लगता है! हमारी वह रात बड़ी सुखदायी बीती। बड़ी मीठी।'

दादा ने साँस भरी और छोड़ दी। जब वह जाने लगा, तो एकादशी ने उसे रोक कर कहा—'सुनो, दादा! अब मैं गाँव में जाते ही, सबसे कह दूँगी कि मेरा विवाह हो गया। पर मूर्ख समाज ने मेरा पति मुझ से जुदा कर दिया। लेकिन मैं कहे देती हूँ, अनन्त जरूर आयेगा। वह एक दिन फिर मुझसे आ मिलेगा।'

दादा ने अपने स्वर पर जोर देकर कहा—'हाँ-हाँ क्यों नहीं! पूजा कभी बेकार नहीं जाती, बिटिया रानी!'

उत्साह भाव में एकादशी बोली—'मैं अनन्त की बात सुनूँगी। उसी के आदेश पर अपने को लुटा दूँगी। वह इस जीवन में मुझे नहीं मिला, तो क्या दूसरे जीवन में नहीं पा सकूँगी! मैं समाज और सम्बन्धियों से साफ कह दूँगी, मेरा पति अनन्त है,—'वह मेरा स्वामी है।'

दादा लौट गया। एकादशी ने वह काव्य-ग्रन्थ फिर बक्स में रख दिया। फिर उसने एक मासिक पत्रिका उठा ली। उसमें भी अनन्त की

एक कहानी थी। एकादशी का मन अस्वस्थ था। वह सहारा चाहती थी। पढ़ी हुई कहानी को फिर पढ़ने लगी, कथा यों थी :—

'मालती जानती थी कि हरीश उसी के पास अपना मन छोड़ता है। उसी को अपनी मानता है। परन्तु मालती की परिस्थित और थी। वह जमींदार की लड़की, बड़े घर की स्वामिनी, तो उसके सम्पर्क में आया महेश बाबू, वह भला इसे कब स्वीकार करता। उसे मालती के पैसे से, नई दुनिया का वैभव प्राप्त करना अभीष्ट था। फलस्वरूप, उसने मालती की भावना को उकसाया और कहा—यही है जीवन—जीवन का भोग—जीवन का परम और श्रेष्ठ आनन्द! लेकिन इसके विपरीत हरीश के पास थे आँसू, पीड़ा और जीवन की यातनाओं का द्वन्द्व! बरबस, वह उसी का 'मालती के समक्ष वर्णन करता। कदाचित् वह अपने समान उस नव-यौवना मालती को भी योग का पाठ देना चाहता। किन्तु जब उसने देखा कि मालती उस पाठ से सहमत नहीं, वह महेश बाबू द्वारा बताई लीक पर जाना चाहती है, तो हरीश सोचता, हाय! उसने अपने जीवन में एक सुन्दर खिलता हुआ सुगन्धयुक्त फूल देखा जो बरबस ही तोड़ लिया गया और बदबूदार स्थान पर छोड़ दिया गया!'

'लेकिन वह मालती भी खूब थी! वह दो तराजुओं के पलड़े में झूल रही थी। उसके मन का सन्तुलन अव्यवस्थित था। हरीश पास जाता तो वह आँख मूँद कर उसकी सीमा में तिरोहित हो जाती। महेश जाता, तो वह वैभव के संसार का रूप दिखा, उसे अपने साथ बढ़ा ले जाता। यों दोनों असफल थे, दोनों ही सफल बनने में प्रयत्नशील थे।'

'किन्तु जीवन के उस गहन प्रवाह में बहते हुये हरीश किनारे नहीं लग रहा था। अतएव वह चाहता था कि मालती को छोड़ दे,—भूल जाय उसे! वह उस द्वन्द्व में निपुण नहीं था। उस चतुर महेशबाबू

के समक्ष अपनी हार मान चुका था। किन्तु उसकी भी कठिनाई यह थी कि अपने प्रति प्रदर्शित की गयी मालती की श्रद्धा और अर्चना उसे सदा अनुप्राणित करती, अपनी ओर खींचती। इस लिये वह विवश था। जीवन का वह मधुराग उसके प्राणों में भी भरा था। उस झंकार से वह मोहित था।'

'लेकिन तभी लेखक ने प्रश्न किया—क्या यह भी सत्य है? व्यावहारिक है? निभने वाला है? जीवन में ऐसे आदर्श की भी साख है क्या? और तब लेखक ने स्वतः ही मालती से कहला दिया—हाँ, क्यों नहीं! हम दोनों इसी आदर्श पर चलेंगे। ऐसे ही जीयेंगे। ऐसे ही मरेंगे·········'

'कल्पना-लोक का वह चिर-पथिक, वह जीवन की पाठशाला का विद्यार्थी हरीश कदाचित ऐसा विश्वास अपने में नहीं पाता। मालती का आश्वासन पाकर भी वह जैसे नारी-लोक-के एक सुहावने, अनुभूतिपूर्ण और यौवन से भरे जीवन की हत्या हुई पाता! निदान, वह मालती को उद्‌बोधित करता, ऐ विमला रानी। तुम महेश बाबू को ग्रहण करो। उसे अपना साथी चुन लो। महेश बाबू के पास उमंग है। प्रतिभा है। जीवन को भोगने की इच्छा है। और मैं तो हूँ ही, इस सफर में पिछड़ा हुआ मुसाफिर—एक बीतरागी—जीवन की दीनता और भावना को छोड़ भला मेरे पास और क्या है! वह बोला, मैं इस कल्पना को भी नितान्त घिनौनी, बेहूदी और जड़ जानता हूँ कि महेश बाबू का प्रतिस्पर्धी बनूँ। न, मैं अपने में ऐसा अहंकार अनुभव नहीं करता।'

एकादशी उस कहानी को अन्त तक नहीं पढ़ सकी। एक दिन जब उसने अनन्त से चर्चा की, तो वह हँस दिया था। वह एकादशी की बात का उत्तर नहीं दे सका था। और अब तो वह उसके पास से दूर जा चुका था।

उसी समय दादा कमरे में आया। वह एकादशी की ओर देखकर बोला—'रो रही हो, बिटिया रानी! शान्त बनो!'

एकादशी ने जैसे तड़प कर कहा—'दादा अनन्त कहता नहीं, पर अब वह भी मुझसे दूर नहीं जाना चाहता था!'

दादा ने कहा—'हाँ बिटिया! वह भी आदमी है। तुम्हारा आभार मानता है। उसे भी सहारा चाहिये। पर तुम भी खूब हो! अनन्त भैया की तरह तुम भी जल्दी रो पड़ती हो। तुम्हारी तरह वह भी अभी बच्चा है और औरत का दिल वैसे ही कमजोर होता है, मुलायम, करुणा से भरा। सच, तुम्हें यही शोभता है।'

एकादशी बोली—'दादा, अनन्त ने मुझे अपने सरीखा बना दिया है। हम दोनों का बचपन से साथ रहा है, उसने मुझे किसी दूसरे साँचे में ढाल दिया है।'

दादा हँस पड़ा और बोला—'क्या जाने बिटिया, किसने किसको ढाला है। मैं तो यही समझता हूँ, दोनों का दोनों पर असर पड़ा है।'

एकादशी ने अपने आँसू पोंछ लिये और कहा—'तुम किसी दिन अनन्त से लड़े होगे। मेरे लिये गुस्सा हुए होगे। सो उसने अपनी डायरी में लिखा था। तुम्हें स्वामी-भक्त बताया था।'

उत्सुक बनकर दादा ने पूछा—'और क्या लिखा था?'

एकादशी इठलाई और प्रसन्न होकर बोल उठी—बस एकादशी की जीत······अनन्त के मन की जीत·······और क्या!'

'तो फिर हार किसकी?'

एकादशी हँस पड़ी और बोली—'सुनील की······मेरे सम्बन्धियों की, और किसकी! अब यही होगा दादा, देख लेना!'

दादा ने कहा—'मुझे पता है, बिटिया रानी !'

एकादशी ने कहा—'बक्स से नयी साड़ी निकाल लो। ब्लाउज भी मैं पहनूँगी। कहीं घूमने चलो। मौसम अच्छा है। सुहावना है।'

दादा बक्स की ओर बढ़ता हुआ बोला—'बिटिया, सच्ची प्रीति में भगवान बोलता है। वह आशीष देता है। भक्ति के पैर भारी होते हैं।'

एकादशी शीशे के समक्ष आ खड़ी हुई। उसने कंघा उठा लिया और बाल सँवारने लगी। उसी अवस्था में वह बोली—'जानते हो, दादा कहानी का नाम क्या है ?'

दूर बक्स के पास बैठे दादा ने पूछा—'क्या ?'

'दीया बुझा : दिया जला !' अनन्त ने लिखा है कि एक दिन वह मालती के गाँव पहुँचा और उसके द्वार पर जाकर खड़ा हो गया।

हर्ष भाव में दादा ने कहा—'वाह ! वाह !'

एकादशी बोली—'कहानी में अनन्त ने स्वीकार किया है कि भावनाओं के इस जीवन में, इस शरीर रूपी खोल में, कुछ विचारों को छोड़, भला और क्या है ! विचारों का द्वन्द्व ही जीवन है। परख का नाम ही कसौटी है।'

दादा ने साड़ी और ब्लाऊज निकाल लिया। वह एकादशी के पास जाकर बोला—'अनन्त भैया सच कहता है।'

कंघी करते हुए एकादशी बोली—'दादा, जब पुरुष किसी नारी की माँग पर झुकता है, उसे परखता है, तो क्या सरल होता है ? और नारी ही क्या किसी पुरुष को सरलता से पा सकती है ? तुम जानते तो हो, पुरुष अपने अहंभाव की पूजा करता है। अपने को बड़ा मानता है।'

दादा ने कहा—'पर अनन्त ऐसा नहीं ! वह सरल और साफ है।'

एकादशी बोली—'न, दादा। वह भी है। मैं जानती हूँ। समझती हूँ

बात सुन, तो दादा आँखों से मुस्करा कर रह गया।

एकादशी ने साड़ी बदल ली। ब्लाऊज पहन ली। रामदीन से भोजन बनाने के लिये कह दिया। दादा एकादशी के साथ चल दिया।

सड़क पर जाकर, एकादशी बोली—'कम्पनी बाग चलेंगे। एकान्त में बैठेंगे।'

'हाँ, हाँ, वहीं चलो बिटिया!' वे चल दिये। जब गन्तव्य स्थान पर पहुँचे, तो वहाँ अनेक परिवार के लोग थे। बच्चे खेल रहे थे। रंग-बिरंगी साड़ियाँ पहिने हुए युवतियाँ इधर-से-उधर फिर रही थीं। उस सुहावने दृश्य को देख दादा के मुँह से निकल पड़ा—'यही है पृथ्वी का स्वर्ग।'

एकादशी ने पूछा—'और नरक?'

दादा सहम गया। बोला—'वह भी इसी धरती पर है, बिटिया रानी!'

एकादशी बोली—'इस स्वर्ग-नर्क की बात ने हमें कुछ दिया नहीं है। कुछ लिया है। इन्सान ठगा गया है। इस भावाजाल में ही दुःख भरा है। स्वार्थ और आह अपना मुँह खोलता है।'

दादा ने बात सुनी और मौन रह गया।

किन्तु एकादशी ने फिर कहा—'अनन्त की एक कहानी में इसका भी चित्रण पढ़ा था। उसने लिखा था कि औरत माँ बनती है, पत्नी बनती है और बहिन कहलाती है, पर क्या वह अपने व्यावहारिक जीवन में जैसी पूरी उतर सकी है,—शायद नहीं! इन्सान को विभाजित करने

में नारी का बड़ा योग है। वह बहुधा अपने सभी पदों के उपयुक्त नहीं बन पाती। दूसरों के बच्चों को औरत कंकड़-पत्थर मानती है, अपने को हीरा समझती है। एक बहिन का भाई हीन होता है। पति भ्रष्ट कहलाता है। जैसे दूसरी नारी की दृष्टि में वह भेड़िया है·······मानो इन्सान के रूप में जानवर·········

दादा ने साँस भर कर कहा—'बिटिया, अनन्त भैया ने सभी कुछ समझा है। वह द्वार-द्वार गया है। सभी तरह के इन्सान से मिला है। उसका सान बड़ा है।'

एकादशी बोली—'अनन्त ने इन्सान को परखा है। शिष्य बनकर चला और अब गुरुत्व की आभा से चमक उठा है।'

सुनकर दादा गद्‌गद् हो गया बोला—'वह अनन्त····सच, महान! वह जागरुक।'

देखकर एकादशी को निश्चय ही अच्छा लगा कि उसी के अनुरूप उसका वह बूढ़ा अनुचर, अनन्त के प्रति एकान्त और एकमत से सुन्दर और सुहावनी भावना से भर गया है। और एकादशी इस बात को जानती थी कि दादा जहाँ उसके पति समर्पित और निकटतर था, वहाँ वह अनन्त से भी दूर, नहीं था,—नहीं!

: ३४ :

जब अनन्त गया, तो एकादशी के लिये मसूरी का प्रवास भी फीका पड़ गया। वह जल्द ही पहाड़ से नीचे उतर गयी। जब गाँव पहुँची, तो उसके निकट सम्पर्क में रहने वाले सभी व्यक्तियों ने प्रश्न किया—'अनन्त नहीं आया? वह कहाँ चला गया?' किन्तु एकादशी ने प्रसन्न भाव में सभी को बता दिया कि अनन्त जल्द आ जायेगा।

इस प्रकार गाँव में आकर एकादशी के समक्ष जहाँ अनन्त के लौट आने की बात थी, वहाँ जमींदारी प्रथा के उन्मूलन का प्रश्न भी सामने आ गया। उस अवसर पर एकादशी ने अपने सभी काश्तकारों को बुलाया और उन्हें जमीन का अधिकार दे दिया। एकादशी जितनी खेती कराती थी, वह और बढ़ा दी गयी। उसने कुछ जमीन में बाग लगवा दिये। उस अवसर पर कुछ जमीन गाँवों में बाँट दी गयी। इस तरह एकादशी के घर से जमींदारी चली गयी। घर बैठे जो पैसे की आमदनी होती थी, वह समाप्त हो गयी।

किन्तु एकादशी फिर भी प्रसन्न थी। वह सुखी थी। जब कई मास इसी प्रकार निकल गये, तो एक दिन अवसर पाकर दादा ने कहा—'बिटिया, अनन्त नहीं आया! उसने अपना कोई पत्र भी नहीं दिया।'

एकादशी ने हँस कर कहा—'दादा; तुम्हारा अनन्त पत्र नहीं देगा। स्वयं आ जायेगा।'

'अनन्त आयेगा? सच, आयेगा?' मानो चकित बनकर दादा ने फिर प्रश्न किया।'

लेकिन नितान्त विश्वस्त बनकर एकादशी ने कहा—'हाँ, हाँ, अनन्त क्यों नहीं आयगा ? एक-न-एक दिन वह तुम्हें यहाँ बैठा दिखायी देगा।'

एकादशी से इतनी दृढ़ बात सुनकर दादा मौन बन गया। वह मुँह लटका कर वहाँ से हट गया।

किन्तु सचाई यह थी कि घर के अन्य आदमियों के समान, दादा को भी इस बात का भरोसा नहीं था कि अनन्त आयेगा। वह उस गाँव में लौटेगा। बल्कि कुछ ने तो यह कहना आरम्भ कर दिया कि अनन्त अब इस दुनिया में नहीं होगा। वह वृद्ध दादा जब इस बात को सुनता, तो सिहर जाता। वह अपने आप कहता कि कहीं""""हाँ, उस सुनील ने अनन्त का खून तो नहीं करा दिया ! कहीं किसी पहाड़ की खोह में मरवा कर फेकवा दिया हो !

लेकिन इतना कहने का किसी को एकादशी के सामने हौसला नहीं था। सभी जानते थे कि वह इतना सुनना सहन नहीं करेगी। इसलिये दादा भी चुप था। वह इस प्रकार की बातों को साँस रोक कर सुन लेता था।

किन्तु दादा को जो सबसे बड़ा खेद उन दिनों हो रहा था, वह यह था कि जमींदारी जाने के साथ-साथ एकादशी ने अपनी और घर की कायापलट कर दी थी। अधिकांश नौकर हटा दिये थे। जो उसके पुरखों का बनाया हुआ बड़ा महल था, वह दान कर दिया। उसमें अस्पताल खुलवा दिया गया। एक भाग पुरुषों के लिये रहा और दूसरा स्त्रियों के लिये। स्वयं अपने निवास के लिये एकादशी ने एक छोटा मकान चुन लिया जिसमें बाहर से आये हुए अभ्यागत ठहरते थे। उस मकान में

प्रवेश करते हुए एकादशी ने कहा, अब मेरे पास कोई अभ्यागत नहीं आयेगा गरीबी में किसी से सम्बन्ध नहीं रहेगा। नौकरों में केवल मुन्शी और एक दादा उसके पास रह गये। वह भी इसलिये कि उसका कोई अन्य अवलम्ब नहीं था।

उसी अवसर पर एकादशी ने अपने कई बरसों के कीमती कपड़े, निर्धन परिवारों को बाँट दिये। उसने प्रण किया कि वह हाथ से सूत कातेगी और उसी का कपड़ा धारण करेगी।

इस तरह, एकादशी का एक क्रम निश्चित हो गया। वह प्रातः स्नान करके मन्दिर में जाती। वहाँ देवता पर फूल चढ़ाती, पुजारी से प्रसाद प्राप्त करती फिर अपनी जमींन देखती, भोजन बनाती। उसके बाद, एकादशी कुछ पढ़ती। दोपहर बाद वह अस्पताल में जाती। वहाँ रोगी स्त्री और पुरुषों से बात करती। उनके कष्ट समझने का प्रयत्न करती। यों दिन बीत जाता। शाम हुए वह दादा के साथ अपने बाग-बगीचे और नदी की ओर घूम आती। इतना सब देखकर, गाँव समझता था कि एकादशी सुखी है, प्रसन्न है। लेकिन सचाई कुछ और थी। भले ही ऊपर से प्रसन्न हो; किन्तु उसका अन्तर्मन स्वस्थ नहीं था। उसे जैसे दीमक चाट रही थी। उसके मन में यह बात काँटे के समान खटक रही थी कि अनन्त नहीं आया…इतने दिन बीत जाने पर भी दिखायी नहीं दिया। यद्यपि दादा ने इस प्रसंग में भी कभी-कोई उल्लेख नहीं किया, परन्तु स्वयं एकादशी के मन में यह शंका थी कि कहीं अनन्त मारा तो नहीं गया। सन्देह की एक यह भी बात हुई कि सुनील एकबार भी एकादशी के पास नहीं आया। उसने एकबार ही मुँह फेर लिया। ि से एकादशी ने सुन लिया था कि उसका विवाह हो गया।

फलस्वरूप, एकादशी का स्वास्थ्य गिर रहा था। दादा देखता कि वह प्रायः उदास रहती और उन्मन बनी होती। जैसे उसका कुछ खो गया था और उसे ढूँडे नहीं मिल रहा था कदाचित् यही देखकर, यदा-कदा दादा टोक बैठता। वह कुछ कहता तो एकादशी हँस देती—'जिस एकादशी को तुमने पाला, गोद में खिलाया; तो एक दिन इसे लकड़ियों में भी जाकर रख देना...और क्या !

दादा इतनी भारी बात सुनता तो संज्ञाहीन बन एकादशी की ओर देखता रह जाता। वह सुगमता से जैसे कुछ भी न समझ पाता केवल इतना कहता—'ऐसा न कहो, बिटिया रानी ! अपने इस दादा को इतना न गिराओ। मैंने पाप किये हैं। बड़े दुःख देखे हैं। उनमें एक और न बढ़ाओ।'

एकादशी सुनती और खिलखिलाकर हँस पड़ती।

परन्तु एकादशी ने जैसे अपना जीवन बदलना ही स्वीकार कर लिया था। वह जमींदार की बेटी बनकर तो कहीं नहीं गयी, लेकिन जब उसने अपना अधिकांश धन दे दिया, तो अपने गाँव के बाहर दूसरे गाँवों में जाती। वहाँ के निवासियों के सुख-दुःख की साथिन बनती। इसका परिणाम यह हुआ कि एकादशी इतनी जन-प्रिय बनी कि उसके द्वार पर आये दिन लोगों की भीड़ लगी रहती थी। अब उसके पास अपना एक मिनट भी नहीं रह गया था। ऐसा अनिवर्चनीय आनन्द एकादशी को पहिले क्या मिला था ?

लेकिन जो सचमुच ही एकादशी के शुभचिन्तक थे, वे तब भी कहते-एकादशी, तुम्हारा त्याग तो अपूर्व रहा ! पर तुमने व्याह भी नहीं किया, बताओ, यह क्या शोभनीय रहा ! यह हमसे नहीं देखा जाता।'

—तो, तुरन्तु ही, एकादशी कह देती—'मेरा विवाह हो चुका है।'

'किसके साथ ? कब ? पति कहाँ हैं ?'

'जब आयेंगे, तो सबको दीख जायेंगे। अब जल्दी आयेंगे।'

वह जाने कब आयेंगे ! इतना समय हुआ ! तम्हारी इतनी उम्र हुई। जिसने तुम्हें इतना सब सिखाया, वह मार्ग दिखाया, वह अनन्त भी पता नहीं कहाँ है ! वह शायद इस गाँव को भूल गया और तुम्हारा यह व्याह कैसा ? नगाड़े नहीं बजे। मृदंग नहीं। गाँव की दावत नहीं···शोर-शरा वा नहीं, बड़ा घर, तुम बड़े घर की सन्तान····हाँ, एकादशी।'

सुनकर एकादशी मौन रह जाती। वह गम्भीर बन उस प्रस्तुत वार्ता को दबा देती। लेकिन जब वह अकेली और एकान्त में होती, तब, अनन्त का चित्र देख कर कहती—"बोलो अनन्त ! यही सत्य है ! लोगों का कहना ठीक है क्या ! अब तुम नहीं आओगे ? मैं तो लोगों से कहती हूँ कि तुम आओगे। तुम अपने वचन को निभाओगे ?"

किन्तु उस अवस्था को देख, दादा का मन उस समय भींग जाता। वह बूढ़ा जैसे उस रहस्य को समझने में जाहिल बन जाता।

अवसर की बात कि उस अवस्था में ही एकादशी बीमार पड़ गयी। उसे कई दिन बुखार चढ़ा रहा। उसी बुखार की तेजी में बड़बड़ाती, भी कहती। एक दिन जब दादा उसके पास बैठा था, तो उसने कहा—'दादा, अनन्त नहीं आया। अब नहीं आयेगा। आये, तो कहना, अरे, निर्मोही, ऐसा निकला तू·······इतना पत्थर·······'

और तभी, दादा ने देखा कि एकादशी की आँखें गालों पर आ गयी हैं। वह रो पड़ी है। यह देख, दादा स्वयं रो पड़ा। उसकी हिचकियाँ बँध गयीं।

कठिनाई की बात यह हुई कि उसी अवसर पर मन्दिर में वसन्तोत्सव मनाया जाता था। प्रतिवर्ष नियत तिथि में आसपास के गाँव एकत्र होते थे। जब एकादशी अस्वस्थ हो गयी, तो उत्सव स्थगित करना उचित समझा गया। किन्तु एकादशी को यह स्वीकार नहीं था। यह उसके पुरखों की परम्परा थी। उसे भी मान्य थी। निदान, उत्सव का दिन आ गया। गाँव जन-समूह से भर गया। उस दिन एकादशी को बुखार तो नहीं चढ़ा, परन्तु दुर्बलता के कारण उससे स्वयं उठा भी नहीं गया। वह दूसरों का सहारा पाकर उठी। नयी साड़ी पहनी मन्दिर गयी। जब एकादशी देवता के सम्मुख पहुँची, उस पर फूल चढ़ाने झुकी, तो उसे लगा कि जैसे अनन्त उस मूर्ति के पास खड़ा है और मुस्करा रहा है······

एकादशी ने अपने काँपते हुए हाथ ऊपर उठाए और देवता की प्रतिमा से प्रार्थना की—"अनन्त जहाँ हो सुखी हो, स्वस्थ हो।"

और देवता मुस्करा रहा था। जैसे हँस रहा था।

किन्तु तभी मन्दिर में एकत्र जन-समूह को चीर, दौड़ता हुआ दादा वहाँ आया और जोर से चिल्लाया—"बिटिया रानी, तुम्हारी पूजा सफल हुई·······तुम्हारा अनन्त········"

एकादशी चौंक गयी। देवता के चरणों में झुका हुआ उसका सिर ऊपर उठ गया। उसने अपनी आँसुओं से भरी आँखों से देखा कि अनन्त सामने खड़ा है। वह मुस्करा रहा है। आगे बढ़, उसने एकादशी का हाथ पकड़ लिया और कहा—"मैं आ गया, एकादशी! अब नहीं जाऊँगा।"

समाप्त